घाटियाँ और घुमाव

घाटियाँ और घुमाव

[मानव मन की दुर्बलताओं एवं अन्तरेच्छाओं का प्रतीकात्मक चित्रण : यात्रा की पृष्ठभूमि पर आधारित मनोवैज्ञानिक उपन्यास]

महेशचन्द्र शर्मा

नेशनल पब्लिशिंग हाउस
नई सड़क, दिल्ली

चित्रकार :
हरिपाल त्यागी

प्रथम संस्करण,
दिसम्बर, १९६०

मूल्य :
चार रुपये

मुद्रक
राजकमल इलैक्ट्रिक प्रेस,
सब्जी मण्डी दिल्ली

सत्यम्-शिवं-सुन्दरम्

उपन्यास की कथा वस्तु को छूने से पूर्व आप यह पृष्ठ पढ़ेंगे। सम्भव है नहीं भी पढ़ें, यह समझकर कि प्रत्येक पुस्तक के प्रारम्भ में 'भूमिका,' 'आमुख' या 'दो शब्द' किसी न किसी रूप में लेखक अवश्य प्रस्तुत करता है—भले ही दो शब्द लिखने के पश्चात वह भूल जाए कि संख्या दो हजार शब्दों की सीमा को भी पार कर रही है। किन्तु मैं आपको न तो कोई ऐसा आश्वासन दूँगा, जिसमें शब्दों की कल्पित परिधि हो और न ही आप पर 'भूमिका, आमुख' या 'दो शब्द' लादूँगा। उपन्यास के प्रारम्भ में आपका कुछ समय लेने से मेरा आशय यही है कि, जो कुछ आप पढ़ने जा रहे हैं, उसके बारे में कुछ बता सकूँ।

इस उपन्यास की कोई घटनात्मक पृष्ठभूमि नहीं है और न ही इसे लिखते समय इस बात का ध्यान रखा गया है कि हमारे आलोचक इसके बारे में क्या कुछ कहेंगे। क्योंकि जिस शीशे से उन्होंने संसार को देखा है, कोई आवश्यक नहीं कि उसी शीशे को धारण कर मैंने वह चित्र लिये हों। यह चित्रणात्मक उपन्यास है और इसमें प्रकृति के वास्तविक रूपों को ज्यों-का-त्यों रख दिया गया है, यह मानव मन में पल-प्रतिपल उठने वाली कमजोरियों का चित्रण है और कुछ नहीं। ऊँचा, आदर्शवादी और महत्वाकांक्षी होने पर भी क्या मानव हृदय से दुर्बल नहीं होता? क्या सामान्य कहे जाने वाले लोगों के समान उसके अन्तर्मन में दुर्बलताएं उत्पन्न नहीं होतीं? अवश्य होती हैं, बल्कि सामान्य व्यक्तियों से वह अधिक दुर्बलता मन में छिपाए रहता है। उसकी इच्छाएं पल-प्रतिपल हवा के झोंकों के समान उठती हैं, वह उनमें उलझता है, फिर बच जाता है। यह क्रम चलता रहता है।

ऐसे ही एक यात्री को लेकर इस उपन्यास का कथाक्रम चला है जो निरुद्देश्य है किन्तु वह प्रान्तीयता, सामाजिक परम्परा, धर्मलोलुपता

एवं व्यक्तिवाद की परिधि से सर्वथा बाहर है। वह स्वयं को दृढ़ संयमी, निरामोह तथा व्यक्तिविशेष के दायरे में नहीं मानता—उसका लक्ष्य यात्रा है।

यात्रा प्रारम्भ होती है तो उस दल में कई मानवीय अनुभूतियाँ मिल कर एक हो जाती हैं—और जब यात्रा का अन्त हो जाता है तो वे अनुभूतियाँ एकता, प्रेम और सत्य का संदेश गुंजरित करती पृथक हो जाती हैं। यद्यपि उनका विछोह हो जाता है किन्तु उनकी आत्माएं एकाकार हो जाती हैं।

सुजाता हार की परिचायक है किन्तु वह असीम धैर्यनिष्ठा के साँचे में ढलकर जीवन की किरण बन जाती है। वह दुर्बलता भी है, हार भी है, पतन भी है किन्तु इसके बाद भी वह गँगा की धारा के समान अजस्र जीवन दायिनी है—उसकी हार विजय को सचेत करती है और उसके पतनोन्मुख भाव पवित्रता का सृजन करते हैं। इसी प्रकार उपन्यास के सभी पात्र एक शुद्ध मानवीय सन्देश दे कर अपने-अपने रास्तों को चले जाते हैं।

आशा है यात्रापथ पर अग्रसर, बढ़ते चरणों को—जिनसे मुझे प्यार है, यह प्रयास अच्छा लगेगा। निरंतर दस वर्षों तक संचित इस अनुभूति को ज्यों का त्यों रखने में मैं कहाँ तक सफल हुआ हूँ यह तो पाठक ही बता सकेंगे।

आज एक लम्बी अवधि के पश्चात यह कृति आप सबके समक्ष आ रही है—आशा है यह प्रत्येक महत्वाकांक्षी मानव को एक दर्पण के रूप में पसन्द आयगी, जिसमें वह सत्य का वास्तविक चित्र देख सकने में सफल होगा।

ई० ८, कर्बला कालोनी
नई दिल्ली—३

महेशचन्द्र शर्मा

समर्पण

* जीवन की उन समानान्तर रेखाओं को, जो रेल की पटरियों के समान एक दूसरे से बहुत दूर हैं

** उन्हें जो इन अनुभूतियों के कारण हैं......उसे जो घाटियों और घुमावों का निर्माता है........

—लेखक

एक

आस्ते भग आसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः।
शेते निषदमानस्य, चराति चरतो भगः।
*चरैवेति···चरैवेति।**

यात्रा एक निरन्तर चलायमान रहने वाला क्रम है। उसका प्रारम्भ तो सभी जानते हैं, अन्त कब होगा यह आज तक कोई नहीं जान सका। इस यात्री-जीवन में कभी भव्य और मनोहारी, हरी-भरी पर्वत शृंखलाएं आती हैं, जहाँ झरनों के उन्मुक्त नृत्य की झनकार गूँजती है, जहाँ गगनचुम्बी देवदार, सफेदे एवं चीड़ के वृक्षों की टहनियों पर चिड़ियों का सरल संगीत सुनाई देता है, किन्तु यही यात्री-जीवन की विशेषता नहीं। कभी वह बीहड़ों के बीच से होता हुआ मरुभूमि में भी जा पहुँचता है; जहाँ जल की कल्पना भी एक मृगमरीचिका है, सूर्य की प्रचण्ड किरणों से जहाँ का एक-एक कण तप्त होता है, वसन्त की कल्पना जहाँ पागलपन है।

इन सबके बाद भी यात्री चलता ही जाता है; अपने लक्ष्य की ओर! वह सामान्य दुःखों में अधिक दुःखी और सामान्य सुखों में अधिक सुखी होने की बात नहीं सोचता क्योंकि, वह ऐसी प्रत्येक परिस्थिति का आदी हो जाता है। उसकी दृष्टि में दुःख और सुख धूप-छाँह से अधिक महत्ता नहीं रखते।

मैं भी एक ऐसा ही यात्री हूँ, जिसके लिये मरुस्थल और हिमाच्छा-

---

* जो बैठता है, उसका भाग्य भी बैठ जाता है, जो खड़ा होता है, उसका भाग्य भी खड़ा हो जाता है। सोने वाले का भाग्य सो जाता है, और पुरुषार्थी का भाग्य गतिशील हो जाता है···चले चलो···चले चलो।

दित घाटियाँ एक-जैसी हैं। उनमें शीत-ताप का जो अन्तर है, वह असीम दुःख सहने की सहन-शक्ति ने दूर कर दिया है। एक यात्री का मार्ग कभी निष्कण्टक नहीं होता और यही यात्री-जीवन का सुख है, यही सोच कर बढ़ रहा हूँ।

मुझे इस यात्री-जीवन में क्या मिला है, या क्या आज तक मैं प्राप्त कर पाया हूँ, यह तो नहीं जानता किन्तु अनायास ही कभी यह अनुभूति होती है कि घर-गृहस्थी की झंझटों में पड़ कर, नून, तेल, लकड़ी की चिन्ता में अपने को घुला कर, वह सब कुछ मैं नहीं पा सकता था, जिसे पा कर आज मुझे एक असीम सन्तोष का अनुभव होता है।

अपनी यात्रा के दौरान मैंने प्रकृति को अति निकट से देखा है, उसका पावन संगीत सुना है और उसे बहुत कुछ समझने की चेष्टा भी की है। नगरों के कोलाहलपूर्ण जीवन में व्यस्त एवं सामान्य दुश्चिन्ताओं में त्रस्त मानव जहाँ चिमनियों के काले धुएँ में प्रकृति के वास्तविक स्वरूप से दूर अपना एक मशीनी-संसार बसा कर रह रहा है, वह क्या बता सकता है कि विश्व के एक सिरे से ले कर दूसरे सिरे तक क्या विभिन्नताएँ हैं! वह इन व्यर्थ की बातों पर विचार भी नहीं करता; उसे भय है कि इन निरर्थक भावनाओं में बह कर उसकी "सोना उगलने" की शक्ति क्षीण पड़ जायगी। न जाने क्यों, मैं सदा ही इस कोलाहल के संसार से कायरों के समान भागता आया हूँ। मेरी इस दौड़ का कई मित्रों ने उपहास किया है। कुछ ने कहा है "निरुद्देश्य भटकना एक पागलपन है, हीन भावनाओं का प्रभाव है।" कुछ ऐसे भी व्यक्ति मिले हैं, जिन्होंने मुझे बढ़ावा दिया है और कहा है "दुनियां में अनगिनत रास्ते हैं, उनमें निरुद्देश्य भटक कर भी कुछ पाया जा सकता है, भले ही यह पाई जाने वाली चीज धन-धान्य और सम्पदा न हो किन्तु इससे बढ़ कर अवश्य है।"

इसी प्रकार मान, अपमान और लाँछनों को अतिशय उदार हो कर सह सकने योग्य मैं अपने को बना पाया हूँ। क्योंकि जानता हूँ कि जैसे

सम्मान और यश चिरस्थायी नहीं होते, उसी प्रकार अपमान भी तो अस्थायी है। फिर इन बातों में क्यों उलझूँ; यही समझ कर यात्रा का यह एकाकी मार्ग चुना है। मेरी और यात्राओं के समान यह यात्रा भी धूप-छाँह जैसी चल रही है। कभी किसी पर्वतीय पड़ाव में बसेरा कर, रात्रि वहाँ व्यतीत कर देता हूँ, तो कभी खच्चरों पर माल लाद कर ले जाने वाले दल के पड़ाव पर ही रात्रि कट जाती है। सूरज की हल्की पीली किरणें चारों ओर छिटक जाती हैं तो अपना छोटा सा अटैची केस ले कर चल पड़ता हूँ, उन ऊँची-नीची पगडंडियों को नापने।

जिस रात्रि से मेरी इस यात्रा की कड़ी प्रारम्भ होने जा रही है; वह एक काली किन्तु सलोनी रात्रि थी। कुमायूँ की एक ऊँची उपत्यका में वह छोटी सी वस्ती रात्रि के अन्धकार में छिपी थी, फिर भी, वहाँ के छोटे ढालदार मकानों में दीपक का प्रकाश टिमटिमा रहा था। मैं उसी बस्ती की एक ऊँची चोटी पर स्थित एक मकान के बरामदे में खड़ा था, जहाँ से मेरे कमरे की मद्धिम रोशनी सामने के एक "तख्तीनुमा बोर्ड" पर पड़ रही थी, जिस पर लिखा था—"डाक बंगला कौसानी।"

यही इस स्थान का नाम था। कुछ देर तक मैं यों ही काली दैत्याकार सी लगने वाली उन पहाड़ियों को देखता रहा, जिनका रम्य सौन्दर्य रात्रि के इस डरावने अन्धकार ने छीन लिया लगता था। डाक बंगले का चौकीदार उसी समय हाथ में लालटेन लिये पगडंडी से ऊपर चढ़ता दिखाई दिया। मैं उसी की प्रतीक्षा में था। मुद्दत से पक्के और शहरी ढंग के भोजन से मन ऊब उठा था, अतः चौकीदार रामसिंह से कह कर मैंने उस क्षेत्र का सादा भोजन मंगवाया था। ठिगने से कद का वह अधेड़ व्यक्ति कपड़े से ढंकी थाली लेकर पास ही आ गया। नित्य प्रति मैदानी लोगों के सम्पर्क में आने के कारण वह साधारण बोलचाल की हिन्दुस्तानी बोल लेता था और कभी-कभार "साहबों" का सानिध्य पा लेने के कारण, उसने जो एक-आध अंगरेजी के शब्द सीख रखे थे, अनजाने में वह उन्हें भी बातचीत के साथ प्रयुक्त कर लेता। खाने की थाली मेज

दित घाटियाँ एक-जैसी हैं। उनमें शीत-ताप का जो अन्तर है, वह असीम दुःख सहने की सहन-शक्ति ने दूर कर दिया है। एक यात्री का मार्ग कभी निष्कण्टक नहीं होता और यही यात्री-जीवन का सुख है, यही सोच कर बढ़ रहा हूँ।

मुझे इस यात्री-जीवन में क्या मिला है, या क्या आज तक मैं प्राप्त कर पाया हूँ, यह तो नहीं जानता किन्तु अनायास ही कभी यह अनुभूति होती है कि घर-गृहस्थी की झंझटों में पड़ कर, नून, तेल, लकड़ी की चिन्ता में अपने को घुला कर, वह सब कुछ मैं नहीं पा सकता था, जिसे पा कर आज मुझे एक असीम सन्तोष का अनुभव होता है।

अपनी यात्रा के दौरान मैंने प्रकृति को अति निकट से देखा है, उसका पावन संगीत सुना है और उसे बहुत कुछ समझने की चेष्टा भी की है। नगरों के कोलाहलपूर्ण जीवन में व्यस्त एवं सामान्य दुश्चिन्ताओं में त्रस्त मानव जहाँ चिमनियों के काले धुएँ में प्रकृति के वास्तविक स्वरूप से दूर अपना एक मशीनी-संसार बसा कर रह रहा है, वह क्या बता सकता है कि विश्व के एक सिरे से ले कर दूसरे सिरे तक क्या विभिन्नताएँ हैं! वह इन व्यर्थ की बातों पर विचार भी नहीं करता; उसे भय है कि इन निरर्थक भावनाओं में बह कर उसकी "सोना उगलने" की शक्ति क्षीण पड़ जायगी। न जाने क्यों, मैं सदा ही इस कोलाहल के संसार से कायरों के समान भागता आया हूँ। मेरी इस दौड़ का कई मित्रों ने उपहास किया है। कुछ ने कहा है "निरुद्देश्य भटकना एक पागलपन है, हीन भावनाओं का प्रभाव है।" कुछ ऐसे भी व्यक्ति मिले हैं, जिन्होने मुझे बढ़ावा दिया है और कहा है "दुनियां में अनगिनत रास्ते हैं, उनमें निरुद्देश्य भटक कर भी कुछ पाया जा सकता है, भले ही यह पाई जाने वाली चीज धन-धान्य और सम्पदा न हो किन्तु इससे बढ़ कर अवश्य है।"

इसी प्रकार मान, अपमान और लाँछनों को अतिशय उदार हो कर सह सकने योग्य मैं अपने को बना पाया हूँ। क्योंकि जानता हूँ कि जैसे

सम्मान और यश चिरस्थायी नहीं होते, उसी प्रकार अपमान भी तो अस्थायी है। फिर इन बातों में क्यों उलझूँ; यही समझ कर यात्रा का यह एकाकी मार्ग चुना है। मेरी और यात्राओं के समान यह यात्रा भी धूप-छाँह जैसी चल रही है। कभी किसी पर्वतीय पड़ाव में बसेरा कर, रात्रि वहाँ व्यतीत कर देता हूँ, तो कभी खच्चरों पर माल लाद कर ले जाने वाले दल के पड़ाव पर ही रात्रि कट जाती है। सूरज की हल्की पीली किरणें चारों ओर छिटक जाती हैं तो अपना छोटा सा अटैची केस ले कर चल पड़ता हूँ, उन ऊँची-नीची पगडंडियों को नापने।

जिस रात्रि से मेरी इस यात्रा की कड़ी प्रारम्भ होने जा रही है; वह एक काली किन्तु सलोनी रात्रि थी। कुमायूँ की एक ऊँची उपत्यका में वह छोटी सी बस्ती रात्रि के अन्धकार में छिपी थी, फिर भी, वहाँ के छोटे ढालदार मकानों में दीपक का प्रकाश टिमटिमा रहा था। मैं उसी बस्ती की एक ऊँची चोटी पर स्थित एक मकान के बरामदे में खड़ा था, जहाँ से मेरे कमरे की मद्धिम रोशनी सामने के एक "तख्तीनुमा बोर्ड" पर पड़ रही थी, जिस पर लिखा था—"डाक बंगला कौसानी।"

यही इस स्थान का नाम था। कुछ देर तक मैं यों ही काली दैत्याकार सी लगने वाली उन पहाड़ियों को देखता रहा, जिनका रम्य सौन्दर्य रात्रि के इस डरावने अन्धकार ने छीन लिया लगता था। डाक बंगले का चौकीदार उसी समय हाथ में लालटेन लिये पगडंडी से ऊपर चढ़ता दिखाई दिया। मैं उसी की प्रतीक्षा में था। मुद्दत से पक्के और शहरी ढंग के भोजन से मन ऊब उठा था, अतः चौकीदार रामसिंह से कह कर मैंने उस क्षेत्र का सादा भोजन मंगवाया था। ठिगने से कद का वह अधेड़ व्यक्ति कपड़े से ढंकी थाली लेकर पास ही आ गया। नित्य प्रति मैदानी लोगों के सम्पर्क में आने के कारण वह साधारण बोलचाल की हिन्दुस्तानी बोल लेता था और कभी-कभार "साहबों" का सानिध्य पा लेने के कारण, उसने जो एक-आध अंगरेजी के शब्द सीख रखे थे, अनजाने में वह उन्हें भी बातचीत के साथ प्रयुक्त कर लेता। खाने की थाली मेज

पर रखकर उसने अत्यन्त ही सरल स्वभाव से कहा "सरकार हम गरीब ठैरा ! साँब हम गरीब लोग मडुवे की रोटी खाता, ऊपर से हरा साग का 'टपुक' लगाता* ।... जैसा बनता साँब वैसा ले आया......" और उसने एक खिसियानी-सी हँसी दिखाई ।

अपने जीवन के बीस लम्बे वर्ष इस डाकबंगले में व्यतीत कर देने वाला वह साधक चौकीदार मेरे सामने खड़ा था, जिसके सामने जीवन की अगणित समस्याएं थीं, वह उनसे यथासंभव जूझता लगता था किन्तु उसकी आंखों में एक पराजय का सा भाव था ।

उसकी बात पर मुझे फीकी-सी हँसी आ गई "नहीं भाई" मैंने कहा "तुम नहीं जान सकोगे कि इसमें मुझे कितना आनन्द मिलेगा।"

थाली पर से कपड़ा उठाया तो उसमें दो मोटी सी काली रोटियां थीं, जिनमें घी लगा था, बाटी में घीये का साग, जिसमें वहां की प्रथानुसार छाछ पड़ी थी और कुछ हरी सब्जी थी। देख कर मुझे कुछ अजीब सा लगा, किन्तु खाने के बाद उस रूखे-सूखे कहे जाने वाले भोजन से जितनी शान्ति मैंने अनुभव की, जितना सन्तोष उसमें था, वह बड़े-बड़े होटलों में, चिकनी तश्तरियों में मिलने वाले भोजन के स्वाद से कहीं बढ़ कर था। मेरे खाने की अवधि में रामसिंह पास ही बैठा रहा। इस बीच मैं उससे कई बातें पूछ गया, जिनका वह सामान्य ढंग से उत्तर देता रहा। अधिकतर जितनी देर वह बोलता रहा उनमें उसकी अपनी निजी समस्याएं ही प्रमुख थीं। वह कह रहा था "बीस बरस हो गया साँऽब, २४ रुपया इधर से पाता है। घर में चार बच्चा है, घरवाली है, सयानी लड़की है। उसका ब्याह करना है—जमीन थोड़ा है। बाजार से मोटा नाज लाना पड़ता। क्या बोलेगा माई बाप, दिन काटता है इधर। आपका जैसा बड़ा लोग का पैरों पर पड़ा रहता हुजूर... ।"

उसे रोकना भी कठिन था, कारण कि वर्षों से यहाँ ठहरने वालों के गुणगान करने की उसे एक आदत-सी पड़ गई थी। उसमें एक हीन

*किसी चीज के साथ खाना

भावना घर कर गई थी और उसकी दृष्टि में प्रत्येक ऐसा व्यक्ति अमीर था, जो उजले कपड़े पहने हो। ऐसी ही बहुत सारी बातें करके वह उठ गया, फिर एक लम्बी-सी सांस खींचते हुए अनायास ही उसके मुँह से निकल गया "देर ज्यादा हो गई है—जाने फौजी साहब किधर चला गया, अभी तक लौटा नहीं।"

"कौन फौजी साहब ?" मैंने पूछा।

उत्तर देने की उसे विशेष इच्छा न थी, इस पर भी उसने बताया "आपका पास वाला कमरा में एक फौजी साहब और उनका लड़की ठैरा है साॅब !"

मुझे यह जान कर प्रसन्नता हुई कि मेरे पास वाले कमरे में कोई यात्री ठहरे हैं। उसने बताया कि उन्हें एक सप्ताह यहाँ ठहरे हो गया है। वे सारे दिन अपनी लड़की के साथ आस-पास के जंगलों में घूमते रहते हैं। शाम तक लौट कर आ जाते हैं। आज जाने क्यों अब तक लौट कर नहीं आये।

रामसिंह पास के सोते से भर कर पानी का जग मेरे कमरे में रख कर चला गया। मैंने सोने की चेष्टा की तो नींद न आई। हार कर मैं फ्रांसीसी लेखक द्वारा लिखे गये एक मार्मिक उपन्यास के पृष्ठों में खो गया। उपन्यास इतना रोचक था कि उसका एक-एक पात्र साकार हो कर आँखों के आगे नाचने लगता। उपन्यास की नायिका, जो दृष्टिहीना है किन्तु उसके हृदय की उड़ाने सदा अनन्ताकाश में विचरण करती है, मेरे मन मस्तिष्क पर छा गई। कालक्रम ने उसके साथ कितना बड़ा अन्याय किया है। वह जन्म जात दृष्टिहीना है, इस पर भी देखने वाला कभी उसकी दृष्टिहीनता की कल्पना भी नहीं कर सकता है; उसकी पुतलियों का रंग, आँखों का वाह्य रूप सभी कुछ ठीक था किन्तु उनमें ज्योति नहीं थी। वह अनिंद्य सुन्दरी है, सब उसे देख कर उसके सौन्दर्य की सराहना करते हैं ..वह दुर्भाग्यवश यह भी नहीं देख पाती कि दुनियां के कितने रंग हैं। युवावस्था में कदम रखते ही उसकी एक-

मात्र अभिभावक माँ का साया भी उसके सर से उठ जाता है। चक्षुहीन होने पर भी वह दुनियाँ की भावनाओं की अनुभूति रखती है। जहां तक वह दुनियाँ को समझ पाई है, वह यही अनुभव करती है कि प्रत्येक व्यक्ति उसकी बेबसी का लाभ उठाना चाहता है, प्रत्येक की दृष्टि में उसका शरीर एक ऐसी सम्पदा है, जिसे भोगना प्रत्येक चाहता है किन्तु साथ देना कोई नहीं चाहता। इस कारण उसे पग-पग पर दुनियाँ से संघर्ष करना पड़ता है, वह ऐसी मान्यताओं को ठुकराती हुई अपने जीवन-क्रम को चलाने का सकल्प करती है, जो केवल दूसरों की बेबसी का लाभ उठाने की ही धारणा से निर्मित की गयी हैं। इसी बीच उसे एक साथी मिल जाता है, जो उसे समय आने पर धोखा दे देता है और वह अपने क्रूर भाग्य की लीला के आगे पराजय स्वीकार कर फ्राँस के एक ऊंचे पर्वतीय शिखर पर पहुँचती है। वह उस अन्धकार भरी रात्रि को साक्षी करके अन्तिम बार कहती है—"ऐ धरतीपुत्र शिखर समूहो ! लोग कहते हैं तुम ठंडी हवा देकर उनमें पवित्रता भरते हो......लोग कहते हैं, तुम साधक हो, ईश्वर की अखण्ड श्रद्धा के प्रतीक हो......धैर्य का सन्देश देते हो—पर तुम्हें दुःख होगा कि आज मैं तुम्हारी इन समस्त मान्यताओं को असत्य सिद्ध करने यहाँ आई हूँ......मैं कहती हूँ तुम्हारा ईश्वर झूठा है ! स्वार्थी है...हां घोर स्वार्थी...यदि वह दयालु होता तो उसकी पवित्र बेटी, जिसे उसने जन्म से ही दृष्टिहीना बनाया, उसी की देहरी पर बलिदान देने न आती......।"

उस उपन्यास की भावधारा ने मुझे कुछ देर के लिए कौसानी से ले जाकर फ्राँस के उन पर्वतों में फेंक दिया जहाँ की भावभूमि पर वह उपन्यास चल रहा था। कुछ देर के लिये मैं किताब सिरहाने रख कर एक वैसी ही पवित्र; बच्चों जैसे भाव रखने वाली युवती की कल्पना करता रहा और मैंने मन-ही-मन कहा, यद्यपि इस घुमक्कड़पन के जीवन में एक किसी का होकर रहना मेरे लिये सर्वथा असम्भव है, तथापि यदि इतनी जर्जरित, उत्पीड़ित एवं त्याग की भावना से उत्प्रेरित किसी

नारी का आँचल मुझे मिल जाए तो उसके समस्त दुःखों को मैं पी जाऊँ !!

तभी एक आवाज के साथ मैं चौंक पड़ा। देखा तो शीशोंवाले दर्वाजे के पास पैरों तक का ओवरकोट डाटे कोई आकृति खड़ी थी। उठ कर मैंने द्वार खोल दिया और मैं उत्सुकता के साथ आगन्तुक की ओर देखता रहा। उसने नम्र और शिष्टाचार पूर्ण स्वर में कहा "मुझे माफ कीजियेगा, आपको नाहक तकलीफ दी। पर मैं इसके लिये मजबूर था। आज चार दिन में कौसानी से ऊब गया हूँ। आपके पास वाले कमरे में ठहरा हूँ। अभी घूम कर आया तो यहाँ बत्ती जली देख चला आया।"

मैंने उनका स्वागत करते हुए कहा "आइये...आइये ! मुझे बड़ी खुशी है कि इस डाक बंगले में मैं अकेला नहीं हूँ !"

मैं आदर से उन सज्जन को चारपाई तक ले गया, मैंने ध्यान पूर्वक उन्हें देखा। वृद्धावस्था के कारण उनकी भंवें तक श्वेत पड़ गई थीं और सारे मुख को धवल, दूधिया रंग की दाढ़ी ने आवेष्ठित किया हुआ था। उन्होंने बूटों के ऊपर तक ऊनी मोजों में गरम पैंट को बेल्टों से कसा हुआ था और ऊपर से एक नीचा चैस्टर वे चढ़ाये हुए थे। उनकी आयु के सारे अनुभव उनकी आँखों की राह प्रगट होते जान पड़ते और उस श्वेत, दूधिया दाढ़ी से वे एक पवित्र हृदय वाले सन्त जैसे भावों की सृष्टि करते जान पड़ते। उनके हाथ में पीतल के दस्ते की छड़ी थी, जो वृद्धावस्था के इस पतझड़-काल में आज्ञाकारी पुत्री के समान उनकी अनुगामिनी थी। मैंने देखा वे सम्पन्न थे, उन्हें सामान्य दृष्टि से कोई दुःख नहीं होना चाहिये था किन्तु इसके बाद भी उनकी आँखों से कुछ ऐसे भाव झलक रहे थे कि मेरे जैसे व्यक्ति के आगे उनका छिपना असंभवप्राय था।

बैठ कर उन्होंने जेब से पाइप निकाला, उसमें तम्बाकू भरी और काला, नीला धुआँ ऊपर छत की ओर उड़ाते हुए अत्यन्त सौजन्यता के स्वर में कहा "मैं आपकी तारीफ़ जानने के लिये ही इस बेसमय

आया। सोचा, जो वक्त कट जायगा, वही अच्छा...अगर आपको ऐत-राज न हो तो...!" इसके आगे स्वतः ही ठहर कर वे पाइप पीने लगे।

मैं अब तक जिस वातावरण में जीता आया हूँ, उसके कारण मुझ में एक हीन भावना-सी आ गई है क्योंकि मैंने पाया है कि ऐसे लोग जो हमारी मनोभावनाओं से सर्वथा अपरिचित रहते हैं, और जो 'खाना, पीना, और जीना' के ही सिद्धान्तों को मनुष्य का लक्ष्य मानते हैं, जो मुझे एक रहस्यात्मक रूप में देखते रहे हैं, मेरे बारे में तरह-तरह के अपवाद भी उन्होंने फैलाए हैं। इन सब कारणों से मैं समय पड़ने पर बहुत संक्षिप्त परिचय किसी को दे पाता हूँ। फिर भी उनकी वयोवृद्धता के निश्च्छलपन ने मुझे क्षण भर में ही बाँध डाला। मैं इन्कार न कर सका। संयत शब्दों में मैंने कहा "मैं एक यात्री हूँ। माँ-बाप ने कुमारेश का नाम भी दिया था; वे गये तो यह नाम भी उन्हीं के साथ चला गया। मुझे दुःख है......" एक फीकी-सी हँसी के स्वर में मैंने बात पूरी की "...मुझे दुःख है कि या तो मेरे जन्मदाता मेरे नामकरण में भूल कर गये और या संभव है, मैं उस नाम की गरिमा को ही भूल बैठा हूँ!"

"आपसे मिल कर मुझे बड़ी खुशी हुई" वे बोले—"खास कर आपके साफ-साफ बोलने के ढंग को देखकर मुझे अपने एक दोस्त की याद ताजा हो गई। उस समय मैं फौज में मेजर था और वह हमारे दफ्तर का एक क्लर्क, पर साहब कितना साफ आदमी था कि जो अन्दर से था वही बाहर से। सच पूछिये तो फौजी आदमी को लाग-लगावट की बातें अच्छी नहीं लगतीं।" वे कुछ रुक गये और खँखार कर गला साफ करते हुए उन्होंने फिर कहा "हां, तो लगता है शायद आप किसी बारे में कोई पुस्तक लिखने के लिये घूम रहे हैं या फिर शहरों की जिन्दगी से कुछ दिनों के लिये 'वैराग' लेकर यहाँ की ताजी हवा ले रहे हैं।"

"शायद आपकी दोनों बातें ठीक हों" मैंने कहा "मैं कई वर्षों से

घूम रहा हूँ। लिखने की अभी तो कोई बात नहीं है पर यदि कभी विचारों और भावों ने साथ दिया तो अवश्य इन अनुभवों को कागज पर उतारूँगा। आपको यह बात कुछ अजीब सी लगेगी कि एक व्यक्ति की कोई मंजिल नहीं है; कोई उद्देश्य नहीं है फिर भी वह भटक रहा है, किन्तु इससे मेरी आत्मा को जो शान्ति मिलती है वह शायद किसी अमूल्य सम्पदा की प्राप्ति से भी मिलनी असंभव थी।" इतनी भूमिका बाँध कर मैंने यह उचित समझा कि इनका परिचय प्राप्त करना अप्रासांगिक न होगा।

अपना परिचय देते हुए वे एक बार ऐसे हँसे मानो उनसे हँसने की प्रार्थना की गई हो, और वे केवल उस माँग को पूर्ण करने के लिये हँस रहे हों। वे बोले "घर का अमीर होने पर भी अपने बुजुर्गों की लीक पर ही चलना मैंने ठीक समझा; फौज में अपनी साफ बोलने की आदत और कड़े 'डिसिप्लीन' के कारण मैं मेजर तक बन गया... आप नहीं जानते कि मैंने अपनी सारी जिन्दग़ी में एक ही चीज सीखी और वह चीज है—हर चीज़ को फौलादी ढंग से देखना, हर इरादे को फौलादी समझना। आप हँसेंगे कि इन्सान को फौलादी ढंग से देखना, मैं अब खुद पर हँसता हूँ पर अब वक्त ने पैरों में बेड़ी डाल दी है, इस लिये पछताने के सिवा कोई चारा नहीं है...!" उनके पाइप का तम्बाकू समाप्त हो गया था। वार्ता बन्द कर ज्योंही वे नये तम्बाकू में तीली लगाने को हुए त्योंही पास वाले कमरे से किसी नारी कंठ की कराह को सुन; वे उठ खड़े हो गये। जाती बार उन्होंने कहा—"फिक्र न करें, मैं अभी आया!"

पाँच मिनट में ही वे आ गये। पुनः अपने पहले वाले स्थान पर बैठते हुए उन्होंने कहा "मेरी बच्ची ने नींद में कोई डरावना सपना देखा था...और कोई बात न थी।"

उनकी बात सुन कर मैंने कहा "यही मैं समझता था।"

वे एक फीकी हँसी के साथ बोले, "अभी तो मैं अकेला नहीं हूँ, पर

ज्यादा दिनों की बात नहीं है। एक दिन सचमुच मैं अकेला हो जाऊंगा।" यद्यपि इस प्रसंग का यहां कोई अर्थ न था, फिर भी इससे उनके हृदय में व्याप्त किसी गहरे दुःख की प्रतिध्वनि प्रकट होती थी।

मुझे लगा जैसे उनकी आँखों में छिपी वह अज्ञात वेदना सहज ही फूट पड़ेगी, किन्तु वे आसानी से उसे पी गये, जैसे कुछ हुआ ही न हो। मैंने इच्छा रहते हुए भी उनकी व्यथा का हाल न पूछा, केवलमात्र उन्हें शान्त करने के दृष्टिकोण से कहा "आपही के शब्दों में आप फौलादी इरादों के इन्सान थे; फिर वह फौलाद पिघले हुए शीशे में क्यों बदल गया? मानता हूँ कि प्रत्येक व्यक्ति अपने आप में एक न एक पीड़ा छुपाये रखता है; मैं भी छुपाये हूँ लेकिन उसका प्रयोग हमें धैर्यशक्ति की प्राप्ति के लिये करना चाहिये।"

"आप ठीक कहते हैं" उन्होंने कहा, और फिर मूल बात का प्रसंग बदलते हुए उन्होंने पूछा "क्या मैं जान सकता हूँ कि यहां के बाद आप का सफर कहाँ को मोड़ लेगा?"

"मैं इस बारे में कुछ नहीं जानता मेजर!" मैंने गम्भीर भाव में कहा "न ही मैं इस बात का कायल हूँ कि मनुष्य को; विशेषकर मेरे जैसे व्यक्ति को कोई भी कार्य 'चार्ट' बनाकर करना चाहिये। जहां मन आयेगा चल दूंगा; कोई मंजिल नहीं, कोई मार्ग नहीं!"

"आपकी बेझिझक बातों ने बहुत जल्दी मुझे आपके करीब लाकर पटक दिया" अपना दायां हाथ मेरे कन्धे पर रखते हुए अत्यन्त ही आत्मीयता के स्वर में उन्होंने कहा "कुमारेश बाबू! हम एक ही रास्ते के बटोही हैं, दुःखी हैं—फिर अगर हम साथ-साथ ही घूमने के शौक को पूरा कर सकें तो शायद यह सभी के लिये एक अच्छी बात होगी।"

उनकी इस इच्छा के लिये मैंने सधन्यवाद उनका साथ देने का आश्वासन दिया। उनका न.म जानने के लिये जब मैंने साग्रह अनुरोध किया तो हँसी के स्वर में वे बोले "ओह! मैं भी कितना भुलक्कड़ हूँ; इतनी बातें हो गईं फिर भी नाम तक बताना भूल गया.........मुझे

मेजर कुमार कहा जाता है..." कुछ रुक कर अपने अतीत का स्मरण करते हुए उन्होंने पुनः ठंडे और गम्भीर स्वर में कहा—"कोई जमाना था, जब इस नाम की धाक थी और मुझे इस नाम से बड़ी दिली तसल्ली सी होती थी......पर अब वे दिन हवा हुए...... ।" मैंने देखा उनकी बूढ़ी आँखों की कोरें चमक आई थीं किन्तु उनके अनुभव ने मेरी स्थिर दृष्टि को ताड़ लिया। क्षण भर में ही वे कोरें सूख गईं, जैसे उनमें कभी आँसू आये ही न हों।

वे शायद उठने ही वाले थे किन्तु मैंने चाहा कि उनके अन्तर में छिपी पीड़ा को किसी प्रकार यदि मैं उगलवा सकने में समर्थ हुआ तो इससे उनकी मानसिक स्थिति काफी अंशों में ठीक हो सकेगी। इसी आशय से आत्मीयता के स्वर में मैंने कहा "कुमार साहब! यदि आप बुरा न मानें तो आपकी परेशानी का थोड़ा बहुत हाल मैं जानना चाहूँगा। मैं समझता हूँ, इससे आप काफी हल्कापन अनुभव करेंगे। शायद कोई ऐसी बात भी हो सके कि मैं आपकी कोई सहायता कर आपका दुःख बांट सकूँ!"

मेरी बात सुन कर वे एक क्षणतक अपलक नेत्रों से मेरी ओर देखते रहे, शायद वे यह आंकने की चेष्टा कर रहे थे कि—क्या मैं इस योग्य हूँ भी, कि वे अपना सम्पूर्ण हृदय मेरे समक्ष रख सकें। कुछ सोचने की सी मुद्रा में वे देर तक मुंह हथेली पर टेके बैठे रहे और फिर धीर, गम्भीर वाणी में उन्होंने कहा—

"एक बात का आप यकीन करेंगे?"

"मैं समझता हूँ, प्रत्येक बात का" मैंने उत्तर दिया।

उन्होंने विश्वासपूर्ण नेत्रों से मेरी ओर देखा और फिर पाइप में नया तम्बाकू डाल कर वे चारपाई पर आराम से बैठ गये। उसी समय आकाश में बिजली चमकी, एक जोर की गड़गड़ाहट के साथ वर्षा प्रारम्भ हो गई। डाकबंगले के ऊपर पड़ी टीन की चादरें छन···छन करके बजने लगीं। बादलों की गरज जब एक पर्वत से टकराकर पुनः वापस आती

तो लगता जैसे पर्वत समूह कम्पायमान हो गया हो और क्षण-भर में ही महाप्रलय की माया दिखाई देने लगेगी।

कुमार साहब ने पाइप में से कई गहरे कश खींचे; धुएं के नीले-नीले कुण्डलों की ओर ऐसे देखा, जैसे उनमें उनके जीवन के अनुभूत रहस्य उड़े जा रहे हों और फिर गम्भीर स्वर में कहना शुरू किया "भले ही आप कुछ भी कहें किन्तु यह तो आप कभी भी नहीं मान सकते कि मेरे जैसा व्यक्ति भी किसी नारी से प्यार कर सकता है। मैं एक कड़ा, फौलादी किस्म का फौजी रहा हूँ। मैंने अपने मातहतों को उनकी गलती के लिए कभी माफ नहीं किया। मेरा इतना रौब था कि निरीक्षण के लिये जहां मेरी पोस्टिंग होती थी वहां के लोग आपस में कहा करते थे 'जल्लाद आ रहा है। अपने बूटों पर पालिश करलो, वर्दियां और पीतल के बैज साफ कर लो।' बड़े अफसर हमेशा मेरे साथ बराबर का बर्ताव करते थे। इतना कड़ा होने पर भी मैं एक देवी से प्यार करता था। वह एक कर्नल की लड़की थी और जिन दिनों मैं मेरठ छावनी में था, वहीं उससे मेरा परिचय हुआ जो बाद में इतना बढ़ गया कि हम दोनों के लिये एक मिनट भी एक दूसरे से अलग रहना वर्षों के जैसा लगने लगा। वहां मेरे दो रूप होते थे। एक कड़ा फौजी बर्ताव, जो मातहतों के साथ होता और दूसरा होता उसके साथ, जब हम दोनों छिप कर कहीं अकेले में मिलते। मुझे यह बात बहुत अखरी और एक दिन मैंने उसके पिता से अपने हृदय की बात कह डाली। मेरे बारे में वे सभी कुछ जानते थे लेकिन अपने यहां मैं जितना कड़ा आदमी समझा जाता था उससे उन्हें यह जरूर सोचना पड़ा कि कहीं उनकी लड़की को जिन्दगी भर खून के आँसू ही न बहाने पड़ें। लेकिन यह बात ज्यादा दिन न चली। हम दोनों की शादी कर दी गई। शादी के बाद ही एक पहाड़ी इलाके में मुझे भेज दिया गया। रानीखेत में मुझे बंगला मिला जहाँ हम दोनों ने अपनी जिन्दगी के सबसे कीमती चार साल बिताये। मैं कह नहीं सकता कि इन चार सालों के बीच का एक-एक क्षण हमारे लिये कितना कीमती

था। शादी के दूसरे साल हमारे घर एक लक्ष्मी आई। मेरी पत्नी ने उसका नाम सुजाता रखा। सुजाता हालांकि लड़की है और हमारे यहां के प्रायः सभी लोग लड़की को एक बोझ समझते हैं पर ईश्वर जानता हैं कि उस जैसी लड़की को पाकर आज तक कभी मैंने लड़के की कमी महसूस नहीं की। उसकी माँ अनुराधा, जिसे प्यार से मैं अनु कहा करता था मुझसे प्राय: कहा करती थी, 'सुजा को हमें बहुत ऊंचा उठाना है और इसके लिये तुम्हें बड़ी से बड़ी कुर्बानी भी करनी पड़े तो यह तुम्हारे और मेरे, दोनों ही के लिये खुशी की बात होगी। मैं चाहती हूँ सुजा बड़ी होकर विदुषी बने।'—वह उस समय सुजाता की ममता में इतनी खो जाती कि उसकी आंखों की पुतलियां जहां की तहां ठहर जातीं और महसूस होता कि वह किसी दूसरी ही दुनिया में घूम रही है।"

इतना कहकर कर्नल कुमार ने एक ठंडी सांस खींची, जो पहाड़ों की हिमानी हवा में मिल कर ठण्ठी हो गई लगती थी। उनकी आंखों ने मेरी ओर ध्यान से देखा, इस भाव से जैसे वे यह जानने की चेष्टा कर रहे हों कि उनके दु:ख में से मैं कितना हिस्सा बंटा रहा हूँ, और जब उन्होंने मेरे गम्भीर मुख की ओर देखा तो उन्हें ऐसा ही सन्तोष हुआ, जैसे रोगी को उसकी रुग्णावस्था के समय देखने के लिये आने वाले लोगों को देख कर होता है।

उन्होंने बिना मेरे कहे ही आगे की कथा छेड़ दी "······लेकिन अधिक दिन तक मनुष्य मनचाहा सुख नहीं भोग पाता या यों कहिये कि एक-सी हालात में हम हमेशा रह नहीं पाते। अनुराधा को निमोनिया हो गया और वह तीन दिन तक बीमार रहने के बाद चल बसी। वह हवा की तरह मेरी जिन्दगी में आई थी—उसी तरह चली भी गई। जाती बार उसने बड़ी मुश्किल से मुझसे कहा—'तुम एक लोहे के आदमी हो, याद रखना कि सुजाता हमारी सन्तान है, और अब तुम उसकी माँ पहले हो, बाप बाद में······'।"

कैसा रहा होगा वह दृश्य, जब अनराधा ने यह कह कर दम तोड

दिया होगा, उसकी कल्पनामात्र से मैं सिहर उठा। कुमार साहब की दृढ़ता न जाने कहाँ तिरोहित हो गई थी; उनकी वयोवृद्ध आंखों से बहती अश्रुधारा मुझसे देखी न गई और उन्हें चुप कराते हुए मैं भी अपना साहस खो बैठा। यह बात आपको आश्चर्यजनक लगेगी कि इतनी जल्दी हम एक दूसरे से कितने घुल-मिल गये किन्तु जिस प्रकार अंधकार से मिलकर अंधकार एकाकार हो जाता है, उसी प्रकार दो सर्वथा त्रस्त व्यक्ति यदि मिल गये तो इसे कृत्रिमता की संज्ञा नहीं दी जानी चाहिये।

मैंने उन्हें सान्त्वना देने के स्वर में कहा, "उठिये कर्नल, उठिये! यदि हम संसार की कड़वाहट लेकर जी सकें तो वह जीना एक बड़ी बात है। जो हो चुका, उस पर आंसू बहाना क्या उचित है ?"

"जो हो चुका उस पर मैं आंसू नहीं बहा रहा" वे बोले "जो आगे होने वाला है उसे सोच कर मैं आंसू बहा रहा हूँ।"

"इच्छा नहीं होती कि आपके इन रिसते घावों को कुरेदूँ किन्तु आप ही का हित देख, ऐसा कर रहा हूँ" मैंने आत्मीयता के भाव में कहा "दुःख तभी तक गहन रहता है जब तक वह केवल अपने तक ही सीमित रहे। जब वह दूसरे पर प्रगट हो जाता है तब मन को उतनी ही शान्ति अनुभव होती है, जितनी फोड़े से मवाद निकाल दिये जाने के पश्चात मिलती है। मैं समझता हूँ अब आप काफी हलके होंगे, मैं चाहूँगा कि और भी यदि आपके हृदय में कोई बात हो, जो अन्दर ही अन्दर आपको दग्ध कर रही है तो आप वह भी कह डालें।"

कर्नल कुमार ने पुनः एक बार पाइप में नया तम्बाकू भरा, उस पर तीली लगाई और नैराश्यपूर्ण स्वर में बोले "मैं आपसे क्या कहूँ...लेकिन यह बता देना चाहता हूँ कि यह यात्रा हम यों ही नहीं कर रहे। जब हम घर से चले थे यही सोच कर चले थे कि शायद हम वापस न आयें! आपको मेरी बातें अजीब-सी लगेगी, किन्तु इस बात में कोई शक नहीं कि अगर सुजाता भी मुझसे दूर चली गई तो मेरे शरीर को इन्हीं पहाड़ों में चील और कौवे खायेंगे..."

"सुजाता आपकी लड़की हैं न ?"

"हाँ, लड़की भा है और लड़का भी !"

"तब उसके लिये ऐसी बात आप क्यों कह रहे हैं ?"

"अभी वह सो गई है" कर्नल कुमार ने कहा "नहीं तो अभी आपको दिखाता। वह मेरे बुढ़ापे का सहारा है। आज वह समझती है कि अधिक दिन वह मेरा सहारा नहीं बन सकेगी। जब वह सत्रहवें वर्ष में चल रही थी तभी पता चला कि उसे कैंसर है। न जाने किस मनहूस कर्म ने ऐसी बीमारी उस चाँद सी लड़की में भर दी। मैंने हिन्दुस्तान के हर बड़े डाक्टर को उसे दिखाया पर रोग इस बुरी तरह उस पर हावी हो चुका था कि कुछ न हो सका। मैं आपसे सच कहता हूँ कि जबसे मैंने यह सब सुना तभी से मेरी सारी सख्ती खत्म हो गई, मैं पत्थर से इन्सान बन गया। तब अपने एक दोस्त के कहने पर मैं स्विट्-जरलैंड भी गया। वहाँ के डाक्टरों ने साफ कह दिया कि इसके सारे खून में कैंसर फैल चुका है, इसका आपरेशन नहीं होगा। ज्यादा से ज्यादा १० महीने और इसका जीवन है बस ! जबसे उसने यह सब सुना है तभी से वह अपने को दुनियाँ से अलग समझती है। उसी की मर्जी से हम इस यात्रा पर निकले हैं, वह चाहती है कि ऐसी ही किसी खूबसूरत घाटी में वह अपनी जिन्दगी को बिखेर दे...वह १० महीने के वक्त को भूली नहीं है...आज ही कहती थी कि ६ महीने ग्यारह दिन और बाकी हैं...अब आप ही बताइये कि जो दुनियाँ में सबसे ज्यादा प्यारी मेरे लिये है उसकी इन बातों से क्या मुझपर कोई असर ही नहीं होता होगा ?"

उस काली रात्रि को मैंने ध्यान से देखा। वह खिड़की से बाहर अपने भयावने रूप में उन समस्त पर्वतों को, जो दिन के प्रकाश में अपनी मनोहारिणी छटा से मानव मन की समस्त दुर्बलताओं, निराशाओं एवं विपदाओं को हर लेते हैं, अपनी भयानक छाया से आवेष्ठित किये थी।

कुमार साहब छड़ी की मूँठ पर गर्दन टिकाए किसी गहरे सोच में

तल्लीन थे। मैंने उनकी भावधारा को भंग कर देना ही उनके हित में ठीक समझा क्योंकि एक हारे हुए मनुष्य को एकाकी रहने देने का अर्थ है उसको गहरे नैराश्य की ओर ढकेलना। यद्यपि मैं स्वयं एक बड़ा निराशावादी व्यक्ति हूँ, जो संसार में अपनी कड़वाहट के नशे में जीवनक्रम को पूरा कर रहा है तथापि एक निराश व्यक्ति दूसरे को आशा तो दिला सकता है, शायद हारा हुआ व्यक्ति इससे प्रेरणा प्राप्त कर आशा की ओर लौटे। यही सोच कर मैं कुमार साहब से गहरी आत्मीयता के स्वर में बोला "वास्तव में आप एक ऐसे आदमी हैं, जो समय से बहुत पूर्व जीवन की आशा से बहुत दूर निकल आये हैं; किन्तु जीवन की मिठास से आप आँखें नहीं मूँद सकते। आप यह क्यों नहीं सोचते कि आज तक संसार का कोई भी व्यक्ति मृत्यु के मर्म को नहीं पा सका है। मैंने ऐसे न जाने कितने लोग देखे हैं, जिन्हें कालक्रम के अनुसार कब का मर जाना चाहिये था, पर वे आज भी जीवित हैं...उठिये! जीवन को इस तरह जहर न बनाइये। मैं समझता हूँ एक दिन यह बात गलत भी हो सकती है!"

मैंने देखा लैम्प के क्षीण-से प्रकाश में उनकी आंखें एक अद्भुत तेज से चमक उठीं। उनमें एक असीम धैर्य था, मृत्यु से संघर्ष करने की एक महान क्षमता थी, और थी संभावित सूर्योदय की एक प्रबल आशा! कुछ क्षणों के लिये उन्होंने बात का प्रसंग ही बदल दिया। वे मेरी इस यात्रा का कारण पूछते हुये बोले " आपने बड़ी बात कही है! कोशिश करूँगा कि थोड़ी हिम्मत अपने में बटोरूँ पर क्या मैं पूछ सकता हूँ कि आपकी इन परेशानियों का क्या कारण हो सकता है, जिनकी वजह से आप इन जंगलों में भटक रहे हैं?"

"कारण?" मैंने कहा "कई बातें अाकरण ही हमसे अपनी इच्छा की पूर्ति चाहती हैं, ऐसा ही कुछ समझ लीजिये या फिर यों समझिये कि मनुष्य नित्य बँधा हुआ रहना नहीं चाहता। वह आचार-विचार, परम्पराओं एवं मर्यादाओं के बंधनों से ऊब जाता है। ऐसी स्थिति में

उसका विद्रोही मन स्वतंत्र होकर स्वेच्छित मार्ग पर चलना पसंद करता है। चूंकि समाज स्पष्टवादिता से घबराता है अतः वह ऐड़ी से चोटी तक का जोर लगा कर मानव की उस स्वतंत्र विचारधारा को कुचल देने का प्रयास करता है। इसमें कोई संशय नहीं कि बहुमत के द्वारा वह अपने प्रयास में सफल भी हो जाता है, पर कभी उसे हार भी माननी पड़ती है—मैं स्वयं एक उदाहरण हूँ जो समाज के दायरे से भाग आया और अब मन उस दायरे में जाने की आज्ञा नहीं देता। इसी लिये भटक रहा हूँ।"

"पर मेरे भाई !" उन्होंने कहा "यह तो हार के लक्षण हैं।"

"हार के कुहरे में जीत भी छिपी हो सकती है।" मैंने कहा।

"हाँ" वे बोले "ऐसा भी है। देखिये न, मैं यह जानता हूँ कि जो हम चाहते हैं, वह होगा नहीं, फिर भी मन अपनी ही बात में भूल जाता है।" कुछ क्षण शान्त रह कर वे बोले "अभी-अभी वह सो गई है। नहीं तो आपको दिखाता कि किस कदर वह जिन्दगी से दूर होती जा रही है। कल देखियेगा। उसी ने कहा था 'डैडी मुझे एक बार हिमालय की घाटियाँ दिखा दीजिये' ....।" उनकी आँखें सजल हो उठीं। उनकी मुखाकृति में गहरी वेदना-सी व्याप्त हो गई, आँखों में एक निराश और दुःखी बाप का हृदय उतर आया।

मैंने कहा "आपने यह अच्छा किया, हवा-पानी से बहुत कुछ बदल जाता है।"

"अरे साहब हवा-पानी कैसा ?" दुःख में सराबोर एक ठण्ठी-सी साँस खींच कर वे बोले "डाक्टरों के मुताबिक वह बस चार-छः महीने की मेहमान है। यह उसी की मर्जी थी कि जाने से पहले वह कुदरत के इन रंगीन नजारों को पास से देखे और...........''

आगे के वाक्य उनके ओठों में ही बुदबुदा कर रह गये। लैम्प के धुंधले प्रकाश में भी उनकी वे नम आंखें मुझसे छुप न सकीं, जिनकी कोरों पर ओस जैसी कुछ बूंदें झलक आई थीं।

उन्हें अतिशय दुःखी देख धैर्य देते हुए मैंने कहा "आप तो फौलादी क़िस्म के इन्सान थे न कुमार साहब! देखिये आत्मविश्वास का सहारा लीजिये।"

"हाँ, उसी फौलादी उम्मीद पर तो जी रहा हूँ।" उन्होंने कहा, "इतना होने पर भी न जाने कौन-सी रूहानी ताकत मन को धैर्य दे जाती है। मुझे यों महसूस होने लगता है, जैसे मेरी सुजाता मुझसे दूर न होगी।"

"आप देखियेगा कुमार साहब!" मैंने कहा "आपकी बात सच होगी। यहाँ की हवा में, यहाँ के पानी में जीवन की आशायें छिपी पड़ी हैं। इसीसे उन्हें आराम होगा लेकिन इस तरह नहीं। उनके सामने जब तक आप प्रसन्न नहीं होंगे, तब तक उन्हें मानसिक शक्ति कैसे मिलेगी?"

मेरी बातों का कुमार साहब पर गहरा प्रभाव हुआ। अति भावुक व्यक्ति के समान वे उठे और उन्होंने मुझे एकाएक छाती से लगा लिया। आनन्दातिरेक से वे कुछ कह न सके और एक मिनट तक चुपचाप स्वजन की भाँति मुझे छाती से सटाये रहे। अपनी बच्ची से उन्हें कितना स्नेह था, यह उनकी बरसती आँखों से प्रकट हो रहा था, जिनका खारा जल बह कर उनकी श्वेत, दूधिया दाढ़ी पर बूँदों के रूप में अटका वैसा ही लग रहा था जैसे कपास के फूलों पर अटकी ओस की बूँदें हों।

मुझसे अलग होकर भरे हुये गले से उन्होंने कहा "आप पहले आदमी हैं, जिन्होंने उसकी जिन्दगी के लौट आने की उम्मीद मुझे दिलाई है। आपने इस एक घण्टे की दोस्ती में मुझे वह सभी कुछ दे दिया जो इस जिन्दगी के आखिरी उतार तक भी मुझे कोई न दे पाया।"

मैंने बात का रुख पलटा "अब आपको आराम करना चाहिये। बातें तो प्रायः रोज ही होंगी, पर इस अवस्था में शरीर पर ज्यादा

बोझ लादना ठीक नहीं है।"

धन्यवाद एवं अभिवादन जताते हुये वे उठ गये। उनके पीछे-पीछे उन्हें छोड़ने मैं उनके दरवाजे तक गया। जाते-जाते उन्होंने सुबह की चाय साथ पीने का मुझे निमन्त्रण भी दे डाला। उनके दरवाजा बन्द करने पर मैं वापस कमरे में लौट आया। नींद भाग चुकी थी, फिर भी बिस्तरे पर लेट गया। पड़े-पड़े उन्हीं के विचार मन में आते रहे और उनकी विशेषता के बारे में स्वयं से मैं प्रश्न करता हुआ-सा न जाने कब सो गया।

दो

रात्रि में देर तक जागते रहने के कारण अगले दिन सूर्योदय के बाद ही मेरी निद्रा भंग हुई। सूर्य की पीली-पीली किरणें खिड़की की राह कमरे में प्रविष्ट हो रही थीं। करवट बदलते समय पलकें जब ऊपर उठीं तो यह देख कर कि दिन काफी चढ़ आया है, मैं उठ बैठा। टूथपेस्ट और ब्रुश लिये जब धारे* की ओर चलने लगा तो कमरे के बाहर मैदान में कुमार साहब को चाय की प्रतीक्षा करते देखा। साथ वाली कुर्सी पर उनकी उन्नीस वर्षीया पुत्री सुजाता बैठी थी। मन ही मन अपने प्रति मुझे ग्लानि-सी हुई, क्योंकि कुमार साहब का चाय का निमंत्रण तो मैं भूल ही गया था।

मुझे बाहर निकलते देख वे मुस्कराते हुए खड़े हो गये। उनकी लड़की सुजाता का ध्यान भी मेरी ओर आकृष्ट हुआ। अभिवादन जताते हुए कुमार साहब बोले—

"रात को आप देर से सोये थे न! इसीलिये आपको जगा न सका। चाय आपका इन्तजार कर रही है।" फिर उन्होंने सुजाता की ओर देख कर कहा "......जिनके बारे में मैं बता रहा था न, वही हैं ये।"

सुजाता के दोनों हाथ ऊपर उठ गये, साथ ही अपलक नेत्रों से उसने मेरी ओर दृष्टिपात किया। उसके अभिवादन का उत्तर दे, कुछ पल तक मैं उसकी उन निराश आंखों को देखता रहा, जिनमें एक गहरी वेदनामय अनुभूति छिपी थी। लगता था जैसे असमय में ही चांद के सुवर्णमय सौन्दर्य को ग्रहण ने स्पर्श कर लिया हो। कुछ ही दिनों की मेहमान होने के भ्रम ने सुजाता को विकास से पूर्व ही सुखा

दिया था। वह इस समय एक सफेद दूधिया रंग की साड़ी के ऊपर गहरे, हरे रंग का मखमली चैंस्टर पहने थी। चैंस्टर के बाहर कमर तक उसके केश छिटक रहे थे। उसके पतले ओठों के बीच एक बारीक सी रेखा स्वतः ही खिच गई थी, जो जीवन के इस पतझड़ में भी उसकी प्राकृतिक सुन्दरता में एक कड़ी सी जोड़ रही थी।

धारे पर हाथ-मुंह धोने के लिये जाते-जाते मैंने कुमार साहब से अपनी भूल पर क्षमा याचना की "मेरे कारण आपकी चाय ठण्डी हो रही है, मैं उठने में आलस्य कर गया, इसके लिये क्षमा करें।"

"इसकी आप चिन्ता न करें" वे बोले।

"पर यहां इतना सामान कैसे आ गया ?"

"नीचे एक होटल है, बिस्ट का" उन्होंने उत्तर दिया--"खाना भी अच्छा बना लेता है"। मुस्कराता हुआ मैं धारे पर चला गया।

पर्वत की कन्दराओं में से छन-छन कर आने वाले उस पवित्र शीतल जल से जब मैंने आंखें धोईं तो लगा जैसे नींद की खुमारी और सारे शरीर का आलस्य कहीं पलक मारते तिरोहित हो गया हो। अच्छी तरह से हाथ-मुँह धोकर मैं चाय पर पहुँच गया।

सुजाता कपों में चीनी डालती गई, कुमार साहब दूध और चाय का पानी कपों में उड़ेलने लगे। शिष्टाचारवश मैंने चम्मच से चीनी मिलानी शुरू की तो हँसते हुए कुमार साहब बोल उठे "अरे आप भी तकलीफ करने लगे ? कौन सी कोई बरात आई हुई है जो इतने आदमी जुट पड़े।"

मैंने भी हँसी के स्वर में कह दिया, "सीखना कोई बुरी बात नहीं है। कम से कम यह तो पता चल जायगा कि चाय में चीनी कैसे मिलाई जाती है।" एक हल्की-सी हँसी वातावरण में गूंज गई। हमारी हँसी में सुजाता ने साथ न दिया, किन्तु मुस्कान की एक हलकी सी रेखा उसके ओठों पर फैल गई।

चायपान के बीच ही कुमार साहब ने कहा, "वैसे इस स्थान पर

आये हमें आज आठ दिन हो गये हैं, अब कहीं आगे बढ़ने की इच्छा हो रही है; पर आप तो कल ही आये हैं, इसलिये आपका मन तो अभी ऊबा न होगा।"

मैंने कहा "मेरे लिये ऐसी कोई बात लागू नहीं होती। एक स्थान पर ठहरना वैसे भी मुझे अच्छा नहीं लगता। एक जगह जम जाना मेरे लिये मुश्किल है। मुझे तो एक स्थान से दूसरे स्थान तक चलते रहने में ही आनन्द आता है।"

"तो क्या मैं यह आशा करूँ कि......" कुमार साहब ने चाय का खाली प्याला मेज पर रखते हुए कहा "......कि आप हमारा साथ देंगे! वैसे घूमने का आपका कोई तयशुदा प्रोग्राम भी है?"

"नियमित प्रोग्राम न तो मैंने बनाया है, न उस पर मेरा विश्वास है। मैं तो कुछ इस सिद्धांत का हो चला हूँ कि मनुष्य को अपनी हर इच्छाओं के लिये स्वतन्त्र होना चाहिये, प्रोग्राम तो मशीनों के लिये बनना चाहिये।" मैंने उत्तर दिया।

कुमार साहब ने कहा "एक तरह से हम तीनों एक ही मंजिल के मुसाफिर हैं और कुदरत ने हमारे रास्तों को एक दूसरे से जोड़-सा दिया है। यह खुशी की बात है कि आपके आ जाने से अब सभी रास्ते आसान हो जायेंगे। हां, एक बात बुरी तरह खटकने वाली है, और वह यह कि कभी-कभी आप बेहिसाब बह जाते हैं। ऐसा होना नहीं चाहिये।"

कुछ देर तक फिर मौन व्याप्त रहा। सुजाता ने इसी बीच कुमार साहब से पूछा "पापा! क्या आज हम यहां से चल पड़ेंगे?" वैसे उसके पूछने का आशय मुझसे ही था, क्योंकि कुमार साहब का भविष्य का कार्यक्रम मुझ पर ही निर्भर था। नारी सुलभ लज्जा के कारण वह खुल नहीं पाई थी।

कुमार साहब ने मुझे सम्बोधित कर पूछा "हाँ, तो क्या राय है आपकी?"

"क्यों न हम आज ही दोपहर तक यहाँ से प्रस्थान कर दें। मार्ग में जहाँ रात्रि हो जायगी, वहीं बसेरा कर लेंगे।" मैंने कहा। कुछ रुक कर मैंने शंका उठाई "लेकिन कुमार साहब! आपके पास जो इतना सामान है इसका क्या बनेगा? मैं चाहता हूँ कि हम लोग भरसक पैदल चलें।"

"इसकी आप फिक्र न करें, सामान ढोने के लिये एक दाई* ढूँढ़ लेंगे।" उन्होंने कहा "और वह हमेशा हमारे साथ रहेगा।"

मैंने कलाई पर बँधी घड़ी पर दृष्टिपात किया। ६ बजे थे। उठते हुए मैंने कहा "अभी ६ बजे हैं और ठीक एक बजे हम यहाँ से चल पड़ेंगे। अब अगर आज्ञा हो तो कुछ देर के लिये जरा टहल आऊँ।"

"जरूर" वे मुस्कराते हुये बोले और मैं नीचे ढलान पर उतर गया। सुजाता पूर्ववत गम्भीर ही बनी रही किन्तु मेरे जाते ही वह उठ कर खड़ी हो गई थी। रास्ते में चौकीदार से अकस्मात् ही भेंट हो गई। उसे टोक कर मैंने कहा "भई! हमारे पड़ौसी साहब के लिये एक कुली का इन्तजाम करना है।"

"अच्छा साँब! वो लोग आज जा रहा है?"

"हाँ भई" मैंने उत्तर दिया 'मैं भी जा रहा हूँ।"

"आपको जगह पसन्द नहीं आया साँब?"

"मेरे लिये सब जगहें अच्छी हैं भई" कह कर मैं नीचे उतर आया।

*　　*　　*　　*　　*

उसी दिन कोई डेढ़ बजे हम तीनों यात्री कौसानी से विदा हो गये। हमारे आगे थी टेढ़ी-मेढ़ी, संकरी पगडण्डियाँ, और आस-पास हरीतिमा-मय उपवन। तीन मील का ढलान सामने था, जिस पर हमारे पग चल रहे थे। आगे-आगे पीठ पर सामान लिये एक पहाड़ी कुली चल रहा था। आज-कल उस क्षेत्र में निर्धनता घर-घर में है, इस कारण लछुवा, जिसे कुमार साहब ने अनिश्चित समय के लिये ढाई

---

* कुली

रुपये रोज पर साथ रख लिया था. पीठ पर इतना बोझ होने पर भी. आनन्दविभोर हो भंगनौल* गाता चल रहा था। भले ही उसके उन गीतों का अर्थ मैं समझ पाने में समर्थ नहीं था, फिर भी उसकी लय में जो मधुरताभरा बहाव था, वह मेरे पैरों को तेजी से उड़ाए जा रहा था।

बांज के हरे-भरे उपवन, बुरुंसी और कनेर के लाल-लाल फूल और सन-सन करते पवन के मीठे झोंके, कुछ अनोखापन-सा लिये लगे। मुझे अनुभव होने लगा कि जैसे मैं किसी दूसरे ही लोक में भ्रमण कर रहा हूं। दूर कहीं ऊंची-ऊंची चट्टियों पर बसे ढालदार छतों वाले छोटे से मकान और उनमें से उड़ कर आने वाले धुएं की अद्भुत-सी गंध, छोटे-छोटे खेत और उनमें साग तोड़ती पर्वतीय बालाओं की गीत लहरी, यह सब कुछ मेरे भावों में काव्यात्मकता लाने के स्वप्नजाल-से थे।

हम तीनों यात्री, जो प्राय: मौन होकर अपना मार्ग तय कर रहे थे, ढलान से नीचे उतरते रहे। शायद हममें से प्रत्येक कुछ सोच रहा था; पर क्या सोच रहा था यह तो सोचने वाला ही अधिक स्पष्ट बता सकता है। लछुवा हमसे आगे था, एकाएक उसका स्वर तेज हो गया। उसने अलापें लेकर तान खींची—

आ ऽऽऽ आ ऽऽऽ बुरुंसी को फूल······बुरुंसी को फूल,
······पारा गाड़ा जन दिया बौज्यू पांस लगे ल्यूंल······
आ ऽऽ आ ऽऽ बुरुंसी को फूल—

वहाँ के इन गीतों की यह विशेषता है कि यह प्राय: स्त्री-पुरुषों में जवाब-सवाल के ढंग से होते हैं। लछुवा की तान का उत्तर खेत पर लाई का साग बीनती एक ग्राम्यबाला ने पतली मीठी लय में दिया—

आ ऽऽऽ आ ऽऽऽ मडुवें की खेति हैं छौ······
झुङरौ को भात···
पारा गाड़ा जन दिया बौज्यू, पांस लगै ल्यूंल ···

* पहाड़ी लोक गीत।

वे खेत अब हमारे पास आते जा रहे थे, लछुवा ने एक और तान खींची—

आ SSS आ SSS, ठेपुवां ले तोली द्यूंलो,

करली तू मौज

मानी जा तू वात हिरू, मानी जा तू बात।

उधर से उत्तर आया—

आ SSS आ, अरे बाप जसौ आपूं छ ऊ—

ईजा जैसी सौत

ये है बेर गाड़ मैं तू, खित मैं कें बापू।*

कौसानी से इसी प्रकार हम चनौदा तक चले आये। झर-झर करती, पर्वतीय शिलाखण्डों को चीर कर द्रुत वेग से बह रही कोसी नदी हमारी दाहिनी ओर थी। चनौदा में जहां हमने पगडण्डी छोड़ कर मोटर की सड़क पकड़ी उससे कुछ आगे चलकर ही कोसी को हमने पार किया। कितनी नीलिमा लिये था वह जल, जो पाषाणों से टकरा कर बहते समय दूध जैसा सफेद, फेनदार लगने लगता। कुमार साहब और सुजाता मुझसे कोई बीस कदम पीछे थे। उंगली के संकेत से वे सुजाता को शायद प्राकृतिक दृश्य दिखाते हुए चल रहे थे और मैं लछुवा के उन ग्राम्य-गीतों के भावार्थ सुनता हुआ सोच रहा था—क्या इन्होंने भी मेघदूत, ऋतु-संहार और कादम्बरी पढ़ी होगी ?······ मन ही मन उत्तर मिलता नहीं···—फिर भी कितने सरस भाव छिपे हैं इन अपढ़, ग्रामीणों के सरल लोकगीतों में !

---

*भावार्थः "बुरुंसी के फूल" केवल लय जोड़ने के लिये है। एक ग्राम्यबाला अपने पिता से याचना करती है "बापू ! मुझे नदी पार के उस इलाके में न ब्याहना। वहां मडुवे की खेती होती है और झुङ्गर का भात मिलता है। मुझे ऐसी जगह न ब्याहना नहीं तो मैं फांसी लगाकर जान दे दूंगी।"

पिता उत्तर देता है "पगली ! वह तो तुझे धन से तोल देगा। वहां तू मौज करेगी······हिरू तू मेरी बात मान पगली।"

तब तक चनौदे का बाजार आ गया। कोई आधा मील तक कच्चे-पक्के ढालदार मकान बने थे। ऊपर के भाग में निवास और नीचे के भाग में दुकानें थीं। जगह-जगह चाय की दुकानों पर बैठे लोग पीतल के गिलासों में चाय पीते दिखाई दे रहे थे। यहाँ की दुकानें भी अजीब थीं; जहाँ चाय, पकौड़े, मिठाई से लेकर आटा, दाल, चावल और परचूनी व बिसातखाने का सारा सामान भरा पड़ा था। शाम हो चली थी, इस कारण दुकानों में काफी भीड़ हो गई थी। लोग अपनी इच्छित वस्तु का नाम लेकर दुकानदार का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर रहे थे। जहां प्रायः अधिक दुकानों पर ग्राहकों की भीड़ लगी थी वहाँ कुछ ऐसी भी दुकानें थीं, जिनके मालिक टकटकी लगाये सड़क की ओर देख रहे थे। ऐसे दुकानदारों के लिये वहां के ग्राहकों के मन में इसलिये श्रद्धा न थी कि वे जरा भी अधिक सौदा नहीं देते या 'सोने की तौल' तोलते हैं। वहाँ कई दुकानदार केवल इसलिये लोकप्रिय थे कि वे 'झुकता' तोलते थे और साथ में आधी छटांक मूँगफली का 'झूंगा' भी देते थे। कपड़े की दुकानें ही एक ऐसी थीं; जिनमें केवल कपड़ा दिखाई देता या वहाँ एक मशीन लिये कोई दर्जी कपड़ा सिलता दिखाई दे जाता, वर्ना और दुकानें तो एक प्रकार से 'संयुक्त वस्तु-भण्डार' ही थीं। चनौदे के आस-पास घाटियों में दर्जनों गाँव पड़ते थे और नदी के किनारे खेती का क्षेत्र काफी हरा-भरा था।

कुमार साहब ने, जो मेरे पास ही चल रहे थे, मेरा ध्यान भंग करते हुए कहा "अच्छी रौनक है यहाँ !"

"हाँ" मैंने धीरे से कह दिया और चलता रहा।

उसकी आंखें भर आती हैं, मन विद्रोह कर कह उठता है "उमर में जितने बूढ़े तुम हो बापू! वैसा तो मेरा होने वाला पति है, और मेरी मां की उमर की सौत उस घर में बैठी है। इससे तो अच्छा है बापू! तू मुझे किसी नदी में बहा दे।"

कुछ आगे चल कर उन्होंने कहा "मेरी राय में आस-पास में रात काटने के लिये इतनी बड़ी बस्ती न मिल सकेगी।"

"क्यों रे लछू !" मैने लछुवा से पूछा "आगे कौनसा पड़ाव पड़ेगा ?"

"आगे सुमेसर (सोमेश्वर) है, गुसैं*" लछुवा ने उत्तर दिया।

"अंधेरा होने तक हम पहुँच तो जाएंगे न रे !"

"हाँ जी ··हाँ जी···" वह स्वयं में इतना सीधा था कि बराबर प्रश्न किये जाने पर उत्तर दे पाना उसके लिये कठिन हो जाता। वह बड़ी कठिनाई से आगे के शक पूरे कर पाया "एक मैल (मील) चन्द्रेश्वर, और दो मैल सुमेसर। तीन मैल है।"

"तब ठीक है" कुमार साहब की ओर देखकर मैंने कहा "तीन मील ज्यादा नहीं है, फिर अभी तो पाँच बजे हैं।"

कुमार साहब ने जेब से पाइप निकाल कर उसमें तम्बाकू भरते हुए कहा "बस फिर आपकी ही बात रही, अच्छा हो कि यहाँ से हम लोग हल्की सी चाय पीकर चलें।"

उनकी बात से हम सभी की सहमति थी, अतः हम पास ही एक चाय की दुकान पर जा बैठे। लछुवा ने भी अपना बोझ बरामदे में उतार दिया। दुकानदार दौड़ा-दौड़ा हमारे पास आया। पास खड़े ग्राहक हमारी ओर गौर से देखने लगे क्योंकि उन सबके लिये हम परदेसी थे। पहनावा, बोलचाल, सभी कुछ भिन्न था। कुछ लोग अपनी मातृभाषा में धीरे-धीरे बातें कर रहे थे, जो सम्भवतः हमारे ही बारे में थीं। वे सभी हमसे प्रभावित तो थे ही, हमें घूर-घूर कर देखते भी जा रहे थे। सुजाता की रेशमी साड़ी, उसकी कलाई पर बंधी सुनहरी रिस्टवाच, उसके जरीदार सैंडल, इन पर पास खड़ी कुछ ग्रामीण महिलाओं की दृष्टि ठहर सी गई थी। एक स्त्री ने उसकी ओर दोनों हाथ जोड़ कर

अभिवादन प्रकट किया। सम्भवतः सुजाता ने यह लक्ष्य नही किया अतः मैंने उस ओर उसका ध्यान आकृष्ट किया—

"वह आपके प्रति अभिवादन जता रही है।"

"कहां ?" उसने पूछा।

"वह देखिये" एक सांवली सी औरत की ओर मैंने संकेत किया, जिसके गले में रांगे का एक वजनी सूता* झूल रहा था।

सुजाता ने उसकी ओर घूम कर दोनों हाथ जोड़ दिये। मैंने देखा, सुजाता के इस व्यवहार से वे आश्चर्यचकित-सी थीं। उनकी दृष्टि में यह एक अनहोनी-सी बात थी कि इतनी सुसभ्य, पढ़ी-लिखी और धनवान लगने वाली युवती उन्हें अभिवादन करे। सुजाता के हाथ जोड़ते ही उन सभी ने हाथ जोड़ दिये। सुजाता ने उनका अनुसरण किया। मैंने लक्ष्य किया, उस समय सुजाता के नेत्रों में समानता के स्नेह भरे भाव उमड़ रहे थे।

तब तक चाय बन गई। दुकानदार ने चाय आदि हमारे सामने रख कर बाद में बताया कि वे बेचारी डूम* जाति की औरतें हैं, जिनके घरों में दरिद्रता आराध्य देवी के समान निवास करती है। उसने बताया कि इन्हें मुश्किल से एक जून का भोजन नसीब हो पाता है, फिर भी ये सन्तुष्ट हैं। दुकानदार के लिये हम प्रतिष्ठित और सम्माननीय व्यक्ति-तुल्य थे क्योंकि हमारी वेशभूषा वहाँ के लिये विशेष महत्व की थी। शायद इसी कारण उसने वहाँ बैठे सामान्य ग्राहकों की उपेक्षा-सी कर दी थी और वह हमारा विशेष ध्यान रख रहा था।

चाय पी कर जब हम वहाँ से चले तो, वहाँ बैठे सभी लोग देर तक हमें देखते रह गये। लछुवा बीड़ी के नीले-धुएँ के कुण्डल छोड़ता सामान का बोझ उठाये चल पड़ा और हम तीनों आस-पास की घाटियों में बिखरी प्रकृति की सान्ध्यकालीन छटा का अवलोकन करते चलते रहे।

कुछ आगे चल कर मैंने सुजाता को लक्ष्य कर पूछा "आप थक तो नहीं गई हैं ?"

एक फीकी-सी मुस्कान उसके ओठों ने बिखरा दी, हँस कर उसने साड़ी का पल्ला सर पर रखते हुए कहा "पहले ही दिन थक जाने को कहते हैं ?"

उसका अर्थ था आज ही तो यात्रा प्रारंभ की है, आज ही कैसे थक जाऊँगी। उसको बढ़ावा देने की दृष्टि से कुमार साहब ने हँसते हुए कहा "आखिर कर्नल की बेटी है !" फिर स्नेहभरे स्वर में उन्होंने सुजाता से ऐसे कहा जैसे वह बच्ची हो "क्यों है न तू कर्नल की दिलेर लड़की ?"

सुजाता ने लजा कर गर्दन झुका ली। कुमार साहव की प्रायः यह आदत-सी थी कि वे अपनी ही बात पर हँस पड़ते थे, अतः कई बार मुझे केवल शिष्टता के नाते ही हँसना पड़ता यद्यपि यह बात कोई विशेष महत्व की न थी, फिर भी एक बार मुझे उनका साथ देने के लिये हँसना ही पड़ा। रास्ते में हमें बाजार की ओर जाते हुए वहाँ के जो ग्रामीण मिले, वे हमें कोई विशिष्ट व्यक्ति समझ कर अभिवादन जताते और आगे बढ़ जाते।

सूर्यास्त हो चला था। दिनमणि की पीली-पीली किरणें चट्टानों की बांयी ओर बह रही नदी के नीले जल में मिल कर एक नवीन स्वर्णिम-सा रंग बिखेर रही थीं। हलकी-हलकी कालिमा चारों ओर छिटक चुकी थी, जिससे पर्वतों की गगनचुम्बी चोटियाँ एक ओर जहाँ काली, दैत्याकार लगतीं, वहाँ दूसरी ओर उसके कुछ हिस्सों में अस्ताचलगामी सूर्य की लालिमामय आभा इस प्रकार छिटकी हुई थी, जैसे उनके ऊपर एक विशेष रंग का गुलाल छिड़क दिया गया हो। पर्वतीय उपत्यकाओं में बसे छोटे-छोटे ग्राम अब धूमिल से होते जा रहे थे, और ग्रामों के बीच से उठता हुआ धुंआं, जो गाय-भैंसों की खरकों में मच्छरों को भगाने के लिये लगाया गया था; एक सोंधी-सी गंध

चारों ओर फैला रहा था। दूर कहीं किसी गांव से कोई बच्चा अपनी तीखी-सी आवाज में खेतों पर गोड़ाई* करने गई अपनी माँ-बहन या भाभी को घर लौट आने के लिये आवाज लगा रहा होता, जिसकी प्रतिध्वनि उन ऊँची-ऊँची चट्टानों से टकरा कर देर तक गुंजित होती रहती। नदी के किनारे बैंस के वृक्षों में छिपे किसी गीदड़ के रोने की आवाज़ साफ सुनाई दे जाती या कहीं कुत्तों के जोर-जोर से भौंकने से कुछ देर के लिये सारा वातावरण कड़वा-सा लगने लगता।

आनन्दभरी संध्या में शान्त भाव से आगे की ओर बढ़ता जा रहा हमारा काफिला, रात्रि के पड़ाव से अब अधिक दूर नहीं रह गया था। चूँकि अन्धकार ने सारे वातावरण को अब क्रमशः अपने आप में समेट लिया था, इसलिये चलते हुए हम एक दूसरे की आकृतियाँ ही देख पाते थे।

सुजाता चलती-चलती थक गई लगती थी; संभवतः इसी लिये वह बार-बार पूछती रहती "अब कितनी दूर और चलना पड़ेगा ?"

इस बार उसने जब यही प्रश्न किया तो मैंने हँस कर कहा "सागर ज्यों-ज्यों पास आता जाता है, त्यों-त्यों उसमें मिलने जा रही सरिता और भी आकुल हो जाती है,।"

"यह तो स्वाभाविक ही है" सुजाता ने धीरे से कहा।

"इसे हम नदी की भूल कह सकते हैं।"

"क्यों ?"

"बताता हूँ" मैंने कहा "न जाने कितने पर्वतों का सीना चीर कर बहने वाली सरिता अपने अधैर्य के कारण जब सागर में विलीन होती है, तब सागर भी एक बार प्रकम्पित हो, हिल उठता है किन्तु सरिता के वेग से अपनी रक्षा करने के लिये वह फिर इतना कठोर बन जाता है कि गर्वोन्मत्त, उन्मादिनी सरिता उससे टकरा कर, क्षत-विक्षत हो क्षण भर में अपना अस्तित्व खो बैठती है। यहाँ तक कि उसका

---

* [illegible]

अपना कहने को फिर कुछ भी नहीं रह जाता। वहाँ वह सागर बन जाती है, सागर के विशाल अस्तित्व में उसका परम्परागत इतिहास इस प्रकार विलीन हो जाता है, जैसे दूध में पानी मिल जाने पर भी वह दूध में विलीन हो जाता है।"

"वाह साहब!" कुमार साहब ने कहा "आपकी थ्योरी तो लिट्रेरी टाइप की है, अगर इजाजत हो तो फौजी टाइप की एक थ्योरी मैं भी पेश करूँ?"

सुजाता जो कुछ गंभीर-सी होगई थी कुमार साहब की बात से धीरे से हँस दी। मैंने कुमार साहब से कहा "जरूर पेश कीजिये?"

गले को खंखार कर वे बोले "सारे दिन बोझ ढोते-ढोते घोड़ा जरा भी थकान महसूस नहीं करता, या करता भी है तो वह उसे जान बूझ कर टाल देता है, पर शाम होते ही जब वह अपने मालिक के साथ अस्तबल की ओर लौटता है तो उसे सम्हालना भारी हो जाता है। वह जानता है कि वह अपने ठिकाने पर ही जा रहा है लेकिन इस पर भी वह जैसे लपक कर अपने बसेरे को छू लेना चाहता है।"

अपनी बात समाप्त कर एक दीर्घ निश्वास उन्होंने छोड़ा। मैंने उनकी बात पर दाद दी "बहुत अच्छा प्रयोग है।"

फिर हम सभी ने एक सम्मिलित ठहाके में उनका साथ दिया। जैसे हमारी आशा की मंजिल ने हमें पुकारा। अब सोमेश्वर की बस्ती में चमक रही गैस की लालटेनों का प्रकाश जगमग-जगमग करता दिखाई देने लगा था और उसके आस-पास ऊँचाई पर बसे दर्जनों गाँव जुगनूँ समूह की भाँति टिमटिमा रहे थे। सोमेश्वर के प्राचीन शिव मंदिर में आरती प्रारम्भ हो गई लगती थी! जब हमने उसके बाजार में प्रवेश किया तो हमारा स्वागत मंदिर में बज रहे शंख, घण्टा और घड़ियालों के निनाद ने किया। कभी वे स्वर मन्द पड़ते, कभी तीव्र होते और बीच में जब शंखनाद होता तो शंख की ध्वनि घड़ियालों की ध्वनि को चीर

कर अपना पृथक अस्तित्व जता देती। बाजार के दोनों ओर सजी-सजाई दुकानों में गैस की बत्तियाँ जल उठी थीं और दुकानदार अपने नित्य के ग्राहकों से बातें करने में तल्लीन दिखाई दे रहे थे। हमने लक्ष्य किया ज्योंही मन्दिर में घण्टों की ध्वनि तीव्र हुई, त्योंही पास के एक दुकानदार ने भक्ति भावना से बत्ती की ओर सिर नत किया, आंखें मूँदीं और पास बैठे लोगों ने उसका अनुसरण किया।

लछुवा से चलते हुए मैंने पूछा "किसका मन्दिर है रे यह !"

"शंकर बाबा का साँब।"

"अच्छा यह तो बता रे...कि हम ठहरेंगे कहाँ ?"

"डाऽऽऽ क बंगला तो हज़ूर एक मैल है यहाँ से..." वह ऐसे ही रुक-रुक कर बोलने का आदी था।

"तब क्या होगा रे ?"

"बाजार में हो जायगा साँब।"

"तब तू ही पता कर" मैंने कहा।

"अच्छा साँब" लछुवा ने कहा और वह बाजार के बीच एक पीपल के पेड़ तले सारा सामान रख कर स्थान की व्यवस्था के लिये चला गया। कुमार साहब सामान के साथ ही बैठे अपना पाइप पी रहे थे और सुजाता उनके पास ही खड़ी बाजार को देखने का उपक्रम कर रही थी।

इसी तरह लछुवा को गये पौन घण्टा हो गया। उधर मंदिर से समवेत आरती-गान एवं घण्टा-शंख निनाद के सम्मिलित स्वर अत्यन्त ही कर्णप्रिय लग रहे थे। उस समय मेरे अन्तर्मन में भावों की सृष्टि हो रही थी और रह-रह कर इच्छा होती थी कि मैं दौड़ कर वहाँ पहुँच जाऊँ। मैं यह मनन करना चाहता था कि इस कोलाहल के पीछे कौन-सी भावना छिपी है। क्या पुराणों में वर्णित आशुतोष इस धराधाम पर उतर आये हैं ? पर मेरे जाने में एक विवशता थी कि कुमार साहब और सुजाता को यों ही छोड़ कर जाना शिष्टाचार के नाते ठीक न था। किन्तु

मैं मन की प्रबल चाह को न रोक पाया। संकोच के साथ कुमार साहब से अपनी इच्छा प्रकट की तो उन्होंने कहा "हाँ, हाँ आप हो ही आइये। लछुवा कहीं जगह ठीक कर आये तो सामान डलवा कर मैं भी आपसे वहीं आ मिलूँगा।"

ज्यों ही मैं चलने को हुआ उन्होंने मुझे रोकते हुए सुजाता से कहा "बेटा! अगर तुम थकान महसूस नहीं कर रही तो इनके साथ मन्दिर हो आओ।"

"डैडी आप अकेले..." सकुचा कर वह कह गई, पर कुमार साहब ने उसे दुलार कर कहा—

"पगली है बेटी तू! बड़े-बड़े मोर्चों, जंगलों और वीरानों में मैं अकेला रहता आया हूँ अब यहाँ क्या मुझे डर लगेगा री? तू चल बेटा, सामान रखवा कर, हो सका तो मैं भी आऊँगा।"

सुजाता ने कोई प्रतिवाद फिर न किया। वह चुपचाप मेरा अनुसरण कर चलती रही। सड़क पार कर एक व्यक्ति से मैंने मन्दिर का रास्ता पूछा और फिर हम एक कच्ची गली के बीच से होते हुए कुछ ही देर में मन्दिर के प्रांगण में पहुँच गये। मंदिर काफी ऊँचा बना हुआ था और उसके पास ही चौकोर किंतु ऊँचाई में उसी के सदृश एक दूसरा मंदिर उन्नत खड़ा था। वहां मंदिरों में जोगी* अर्चना आदि करते हैं। एक जोगी ने, जो मंदिर की आय से ही निर्वाह करता था हमें क्रम से मंदिर दिखाया। वह बोला "यह योगीराज कृष्ण का मन्दिर है।"

उससे सटे हुए और भी दो-तीन छोटे-छोटे मन्दिर उसने हमें दिखाये, जो क्रमशः नंदी, वीरभद्र और भैरव के थे। सबके बीच में गर्व से मस्तक ताने खड़ा था उन समस्त मन्दिरों का सिरमौर आशुतोष का मन्दिर! जिसके बुर्ज को छूता हुआ देवदार का एक वृक्ष अपनी गौरवगरिमा का गान करता, बहुत ऊँचाई तक उठ गया था। प्रांगण में एक बड़ा सा बरामदा था। उससे सटे एक बड़े से कमरे में आशुतोष की पिण्डी

*पुजारी।

प्रतिष्ठित थी। पिण्डी के ऊपर एक ताम्रकलश झूल रहा था, जिसके सूक्ष्म छिद्र से कुश के तिनके के सहारे गिरने वाली जल की एक-एक बूँद आशुतोष के निर्विकार भाल पर गिर रही थी। चारों ओर फूलों के ढेर लगे थे और बरामदे में मन्दिर के थम्भों पर झूल रहे घंटों व घड़ियालों को भक्तगण बजा रहे थे। आरती चल रही थी। वहाँ खड़े भक्त क्षण भर के लिये अपने समस्त दुःखों को भूल से गये थे। रोग, शोक, सुख, दुःख के अन्तर्द्वन्द्व जैसे इस घड़ी स्वयं ही कहीं पलायन कर गये लगते थे। सुनाई दे रहा था केवल आरती का स्वर, और शंख-घंट का सम्मिलित निनाद। आरती की लाइनों को दुहराते समय एक ऐसी ध्वनि प्रगट होती, जिसमें आबाल, वृद्ध, वनिताओं का स्वर फूटा पड़ता था।

सुजाता और मैं एक खम्भे का सहारा लिये आरती-गान सुनते रहे। तब हममें से दोनों अपनी-अपनी भावनाओं में इतने लवलीन थे कि एक दूसरे की ओर देखने का भी हमें ध्यान न रहा। लगता था जैसे पृथ्वी पर ही स्वर्ग उतर आया हो। मन एक अज्ञात भावना से भर गया था।

यद्यपि मैंने कभी किसी आकार-प्रकार वाले देवता की उपासना-नहीं की, न ही मैंने अनन्त सृष्टि के सृष्टा एवं भूमण्डल के नियन्ता से सम्बन्धित, धर्मग्रन्थों में वर्णित किसी अवतार की सत्ता स्वीकार की है। मैं तो यही स्वीकार कर सका हूँ कि जो पल-क्षण में ही इतने प्रलंयकर और कल्याणकारी नाटकों की भूमिका करता है, उसे मानव सदृश कर्म करने की क्या आवश्यकता है; किन्तु वह भावना का प्रश्न था और अच्छे-बुरे कार्यों में रत विभिन्न प्रकार के प्राणियों को पत्थर के एक मेले ने अपनी भावना में डुबा दिया था। अतः आरती समाप्त होने पर मेरा मस्तक अनायास ही उस काल्पनिक आशुतोष के प्रति नत हो गया। सुजाता ने भी मेरा अनुसरण किया।

आरती के पश्चात प्रसाद वितरण का क्रम चला। सभी प्रसाद ले कर पास बिछी दरी पर बैठते जा रहे थे। पास ही एक काठ की चौका

पर वस्त्र बिछे थे और धूप के नीले-नीले धुएं क लहरें अपने साथ एक सुगन्ध-सी उड़ाती जा रही थीं। पहले कीर्तन और फिर उपदेशों का क्रम प्रारम्भ होने वाला था।

पहली बार मैंने अनुभव किया कि सुजाता की पतली, नरम किन्तु ठण्ठी उंगलियां मेरी गर्दन से छू गई। उसने इस प्रकार मेरा ध्यान भंग करते हुए कहा "कहीं डैडी अब तक वहीं खड़े न हों; जो आप गली से बाहर, सड़क पर मुझे छोड़ दें तो······"

"ओह, हां! मैं भूल ही गया था" मैंने क्षमा-याचना के स्वर में कहा "हमें अब उनके पास चलना ही चाहिये। उपदेश सुनने से तो सो कर समय गुजार देना अच्छा है।" मैं उठ पड़ा, वह भी मेरा अनुसरण करती हुई चलने लगी।

मंदिर की सीढ़ियां उतरते हुए सुजाता ने मृदुल किन्तु संकोच जड़ित स्वर में प्रश्न किया "उपदेशों से वास्तव में आपको चिढ़ है ?"

"हां, चिढ़ ही नहीं नफरत भी" मैंने उत्तर दिया और स्वयं ही स्पष्टीकरण देते हुए कहा "क्योंकि उपदेशों का आज तक न तो किसी पर प्रभाव हुआ है और न कभी उपदेशक की ही ऐसी भावना रहती है कि वह जो उपदेश किसी को देने जा रहा है, उनका किसी के हृदय पर प्रभाव पड़े। कारण कि ऐसे उपदेशक स्वयं में इतने असंयमित होते हैं कि श्रोता उनसे जरा भी प्रभावित नहीं हो पाते। बस उदर पोषण के लिये वे उपदेश देते हैं, अन्न पचाने के लिये श्रोता उसे ग्रहण कर लेते हैं।"

"यह सभी सम्भव हो सकता है" सुजाता ने कहा "किन्तु प्रत्येक की भावनाओं का सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त किये बिना, उस पर अपना निर्णय देना क्या मतिभ्रम नहीं हो सकता ?"

"हो सकता है मतिभ्रम भी, किन्तु पांच या दस प्रतिशत" मैंने कहा "आज का मानव उपदेशों एवं ज्ञान-चर्चा को केवल धार्मिक आहार समझ कर ग्रहण करता है और वह भी उतनी ही देर तक जब तक उसे

अन्य सांसारिक कार्यों से छूट मिल सकती है। यह छूट कुछ क्षणों की ही होती है।"

"फिर भी मनुष्य इस कार्य में समय तो लगाता है न!" सुजाता बोली "जब समय लगाता है तो मनन भी करता ही होगा।"

"आप शायद वास्तविकता से दूर चली गई" मैंने कहा "यह ज्ञान का पाठ उतनी ही देर तक मानव के मस्तिष्क में चलायमान रहता है, जितनी देर कि वह उपदेश सुनता रहता है। वहां से उठते ही उसको वे गोरख-धन्धे तेजी से अपनी ओर खींच लेते हैं। अगले दिन फिर वहीं से क्रम प्रारम्भ होता है और वहीं समाप्त हो जाता है। इसका कारण यह है कि मानव अपने गोरखधन्धों के क्रम में धर्म को भी शामिल कर लेता है, जबकि वास्तविक धर्म क्या है, यह जानना तो दूर, लोग धर्म की परिभाषा भी नहीं जानते। धर्म को केवल अगले जन्म में सुख या स्वर्ग-प्राप्ति का निमित्त माना जाता है। जो वर्तमान है वह असार है और जो अस्तित्वहीन है उसे धर्म का प्रारम्भ मानना, क्या आपके दृष्टि-कोण में यही धर्म की परिभाषा है?"

हम दोनों अब उस पतली-सी गली के बीच से होकर चल रहे थे, सुजाता ने प्रश्न किया "आपकी दृष्टि में धर्म-कर्म पर आस्था रखना ही बुरा है?"

"धर्म तो कर्तव्य का नाम है। कर्तव्य समयानुसार मनुष्य के सामने आता हैं। उदाहरणार्थ, एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को समाप्त कर दे यह अनुचित है किन्तु यदि उसकी समाप्ति से एक साथ कई व्यक्तियों की प्राणरक्षा होती हो और वह अपराधी हो तो उसे मार डालना ही यहां धर्म बन जायगा। किन्तु, आज की समाज व्यवस्था इस धर्म की परि-पालक नहीं है, वह ईश्वर का नाम लेकर अधर्म को भी अपनी इच्छानु-सार धर्म की संज्ञा दे डालती है। ऐसे किसी भी धर्म-कर्म में मैं तो कम से कम आस्था नहीं रखता।"

"पर बहुमत जिस प्रकार की व्यवस्था का आदी हो गया है, उसे

स्वीकार न करना क्या अनुचित न होगा ?"

"बहुमत" मैंने हँस कर कहा "बहुमत की बात एक मूर्खतापूर्ण तर्क है। शायद प्रत्येक विचारवान व्यक्ति बहुमत के निर्णय को स्वीकार करने के बजाय, उसके विरुद्ध विद्रोह कर देना ज्यादा अच्छा समझेगा।"

"कारण बता सकेंगे ?"

"हाँ, अपनी मान्यताओं के आधार पर" मैंने कहा "बहुमत मौलिक सूझ-बूझ को कोई स्थान नहीं देता। इतिहास इस बात का साक्षी है कि विश्व में जितने भी अत्याचार मानव जाति पर ढाये गये, वे सब बहुमत के ही परिणाम थे। न जाने कितने निर्दोष केवल इस लिये मार डाले गये कि बहुमत उनके विरुद्ध था। उनकी आवाज में नये युग का सन्देश था, किन्तु बहुमत ने उसे अपने ऊपर हस्तक्षेप समझा और अल्पमत के विरुद्ध निर्णय दे दिया। यह बहुमत की आदि परंपरा रही है। वह छल, कपट और वैयक्तिक स्वार्थों का सृष्टा है, उसी ने न्याय के बलिदानी रक्त से अन्याय की विष-वेलि को सींचा। किन्तु इससे न्याय पक्ष पराजित न हुआ। समय-समय पर ऐसे लोग इस धराधाम पर आते रहे, जिन्होंने बहुमत के अंध निर्णयों को चुनौती दी और अपनी युगप्रवर्तक आवाज से दिग्-दिगन्त को गुंजा दिया। बहुमत ने उन्हें और उनकी आवाज को अपने स्वार्थों पर चोट समझ, समाप्त करने का निर्णय दिया। भले ही बहुमत उन्हें कुचल देने में सफल हो गया किन्तु वह आवाज उनकी इस विजय पर अट्टहास करती रही—वह अमर थी, उसे कौन मार सकता था···एक दिन वही युग की आवाज बन गई और उसने उस व्यवस्था को छिन्न-विच्छिन्न कर डाला।" सड़क तक आते-आते मेरी आवाज अपेक्षाकृत कुछ ऊँची हो गई थी, मैंने बात जारी रखी "सहस्रों व्यक्ति किसी उचित या अनुचित सिद्धान्त का प्रतिपादन केवल इस लिये करते हैं कि बहुमत उसे मानता है—समझ-बूझ का वहाँ कोई प्रश्न ही नहीं है। किन्तु एक विचारक यह किसी प्रकार भी स्वीकार नहीं कर

सकता कि हजार व्यक्ति जो कुछ कर रहे हैं वह उचित हो सकता है या इतने व्यक्ति भूल ही नहीं कर सकते। वे एक दूसरे का अन्धानुसरण करते हुए असंख्य और अक्षम्य भूलें करते हैं। जैसा कि किसी सिद्धान्त के अर्वाचीन होने या अधिक व्यक्तियों का समर्थन प्राप्त होने पर ही उसे कसौटी पर खरा मान लिया जाता है किन्तु बुद्धिवाद किसी भी मान्यता का पर्यवेक्षण किये बिना उसे न्यायसम्मत नहीं मानता। यही बुद्धि और शक्ति के बीच का अन्तर है। शक्ति बहुमत के संबल से अत्याचारों की सृष्टा है और बुद्धि उन अत्याचारों के विरुद्ध विद्रोह करने वाली एक प्रवृत्ति ! भले ही यह प्रवृत्ति बहुमत के चक्के में कुचल दी जाए; किन्तु समय आता है जब उसका वह बलिदान एक क्रान्ति को जन्म देता है—कालान्तर में वही क्रान्ति समाज के उज्ज्वल स्वरूप की सृजनहार बन जाती है।"

"ओह आपने तो हद ही कर दी" सुजाता ने एक साँस छोड़ते हुए कहा "पर जहां तक शंका का प्रश्न है, मैं समझती हूँ उसके समाधान में आप पूर्णतः सफल रहे हैं। मैं पूरी तरह सन्तुष्ट हूँ।"

तब तक हम उसी स्थान पर आ गये थे, जहाँ कुमार साहब को छोड़ गये थे, किन्तु वहाँ न तो कुमार साहब थे और न सामान था। हम खड़े ही थे कि चने चाबता हुआ लछुआ हमारे पास आ गया। उसीसे पता चला कि एक दुकान में ठहरने के लिए स्थान मिल गया है। कुमार साहब ने उसे हम लोगों के लिये ही वहाँ बिठा रखा था। हम दोनों उसके साथ-साथ चल दिये।

—*—

तीन

भोर हुआ। बाजार के पिछले हिस्से में आबाद कलालों की बस्ती में मुर्गों के झुण्ड ने सम्मिलित स्वर में बांग दे, प्रातःकाल के आगमन की सूचना दी। शिव मन्दिर के पास चारो ओर को फैले देवदार के वृक्षों पर से चिड़ियों की चहचहाहट ने मुर्गों की सूचना का समर्थन किया। कौवों की कर्कश आवाज तब बुरी नहीं लगी, कबूतरों ने पंख फड़फड़ा कर जैसे सोने वालों को जगाया—उठो, अब सूर्य की सुनहली किरणें द्वार पर आने वाली हैं, उनका स्वागत करने के लिये खड़े हो जाओ।

मैंने जोर की एक जम्हाई ली और उठ बैठा, और नदी की ओर खुलने वाली खिड़की से झांक कर देखा। अंधकार की काली छाया धीरे-धीरे शून्य में विलीन होती जा रही थी और आ रही थी मानव जीवन को आशाभरा सन्देश देने वाली सुबह! पर्वतों की अडिगता का सन्देश ले, नदी की नील धारा का चुम्बन लेकर जो भीनी-सी बयार खिड़कियों के रास्ते घर में प्रविष्ट हो रही थी उसमें एक अनोखी शीतलता थी, जिसने मेरे अन्तःकरण को झंकृत-सा कर दिया। मुझे लगा जैसे यही है देवताओं और किन्नरों का देश; जहां के पत्ते-पत्ते में नवजीवन का सन्देश है।

उधर शिवालय में घण्टे बज उठे। शंखों की सुमधुर ध्वनि उस ब्राह्म मुहूर्त में एक बार चतुर्दिक गूँज गई। सड़क पर मन्दिर जाने वाले भक्तों के झुण्ड चलने लगे थे और उनके द्वारा गुनगुनाये जाने वाले श्लोकों की ध्वनि अस्पष्ट रूप में सुनाई दे जाती थी। मैंने पीछे मुड़ कर देखा। फर्श पर बिछे स्वच्छ से बिछौने पर एक ओर सुजाता और दूसरी ओर कुछ तिरछे से कुमार साहब लेटे थे। पर्वतों से टकरा कर सीधी बह कर आने वाली बयार को न सह पाने के कारण कुमार साहब ने कम्बल

ऊपर ले लिया था, किन्तु सुजाता का कम्बल पांवों पर यों ही पड़ा था। उसने पशमीने की एक सफेद चादर अपने ऊपर डाल रखी थी। यद्यपि कमरे में अभी पूर्णतः प्रकाश नहीं फैला था फिर भी उसका मस्तक खिड़की की ओर होने के कारण उसके निद्राच्छन्न मुख-मण्डल पर जो आभा छिटक रही थी, उसे देख लगता जैसे कुहरे में छिपे होने पर भी सूर्यमुखी का फूल अपना रूप न छिपा पा रहा हो। उसकी पलकें मुंदी हुई थीं किन्तु कभी-कभी जब वह करवटें बदलती तो भौंहों की चन्द्राकार कालिमा में कम्पन-सा प्रतीत होता। उसके दीप्त मुखमण्डल पर निराशा का जो वातावरण छा गया था, वह इस समय कहीं तिरोहित हो गया लगता था—पर यह सब कुछ क्षणिक था। इसी बीच उसने करवट बदली। उसकी पलकें एक बार प्रकम्पित-सी हुईं, पुनः बन्द होने को ही थीं कि एक अस्पष्ट-सी छाया देख वह उठ बैठी और उनींदी आंखों से मेरी ओर देखने लगी। वह जाग गई है यह जानकर मुझे स्वयं पर ग्लानि होने लगी, साथ ही तब मेरे मन में एक दूसरा विचार भी तेजी से घूम गया। भले ही तब मेरे मन में उसके सुषुप्त सौन्दर्य को देखने की चाह में कोई अर्थ विशेष न था किन्तु फिर भी इस थोड़े से समय में मैं उसका सर्वांग निरीक्षण कर गया। यह अपने चरित्र को बांस पर टांगने वाली बात होगी यदि मैं यह स्वीकार न करूं कि मैं अनायास ही उसके सौन्दर्य को देख ठगा-सा रह गया था। बाह्य-रूप से भले ही मुझमें इतना साहस न हो और मैं आदर्शवादिता का डंका पीटते हुए कहूँ कि मैं महान हूं, किन्तु यह अटल सत्य है कि निद्रावस्था में सुजाता के मोहक सौन्दर्य को एकटक निहारते रहने की इच्छा के भीतर एक प्रबल आकर्षण छिपा था। यद्यपि वह उस सीमा तक न जा सका किन्तु, उसमें एक गुरुत्वाकर्षण जैसी शक्ति अवश्य थी।

जैसे कोई ईमानदार और सच्चरित्र व्यक्ति दुर्दिन के दुःख से त्रस्त होकर चोरी करते हुए रंगे हाथों पकड़ा गया हो, ठीक उसी प्रकार मैं सुजाता की उन उनींदी आंखों को, जो मेरी ही ओर आकर ठहर गई

थीं, देख कर उससे आंखें न मिला सका। मैं सोचता रहा कि यदि सुजाता मेरे मनोभावों के बारे में जरा भी जान गई होगी तो वह क्या सोचेगी? यही न कि ऊपर से सुन्दर दिखाई देने वाले कमल की जड़ों में कीचड़ छिपा है······ वही कमल जिसकी उपमा में कवियों ने न जाने कितने महाकाव्यों के परिच्छेद रंग डाले हैं। क्या उन्हें कभी उसकी जड़ का ध्यान ही न रहा होगा? शायद यह सत्य नहीं है। उन्होंने जान-बूझ कर अपने सुन्दर स्थलों की मोहकता को बनाये रखने के लोभ में ही इस तथ्य को झुठला दिया होगा।

इस प्रकार एक क्षण में ही न जाने विचारों का कितना प्रबल प्रवाह मेरे अन्तरप्रदेश की क्षुद्र-सी नदी में एक ज्वार ले आया। अभी मैं सोच में ही था कि असलाई आंखें मलती हुई सुजाता उठ खड़ी हो गई। वह धीमे कदमों से मेरे निकट आ गई और एक हल्की-सी जम्हाई उसने पीछे की ओर मुख कर छोड़ते हुए कहा "आप कब से जाग रहे हैं?"

"अधिक देर नहीं हुई है" मैंने संक्षिप्त-सा उत्तर देकर उसकी ओर इस प्रकार देखा, जैसे उसकी आंखें मुझे यह बतां देंगी कि मेरे मन की शंका कहां तक सत्य थी।

वह कुछ क्षण भावविभोर-सी बाहर की आभा को देखती रही और फिर बोली "काश! कि कीट्स और शैले ने यहां का प्रभात देखा होता, तब उनकी काव्यधारा में निश्चय ही चार चाँद लग जाते।" अपनी बात कह कर उसने दूर बह रही नदी के कगार पर खड़े बैंस के वृक्षों की पंक्ति पर इस प्रकार अपने नेत्र जमा दिये, जैसे प्रकृति की उस सुन्दरता में वह डूब गई हो। उसकी बात का उत्तर देते हुए मैंने कहा "हम उनकी पूर्ति करेंगे···हम······"

"आप?" आश्चर्य के स्वर में उसने पूछा।

"हां मैं।"

"मैं आपकी सफलता की कामना करूंगी" वह कहती गई "संसार के इस लुभावने रूप में भी नैराश्य छिपा है। सोचती हूँ, यदि मानव

अमर होजाता तो कितना अच्छा होता ।"

कुछ देर के पश्चात जब वह अपनी स्वाभाविक स्थिति में आई तो उसने सिर पर से नीचे खिसके साड़ी के छोर को संभाला; इस बीच उसका वक्ष नंगा हो गया था। इस बात को अनुभव कर उसने पलकें उठाई तो आँखों में नारी-सुलभ लज्जा के कोमल भाव तैर रहे थे । कुछ क्षण इसी प्रकार मौन छाया रहा, तब मैंने ही उसे भंग किया "मैं कुछ देर के लिये टहलने जाना चाहता हूँ ।"

"यदि मैं भी साथ चलना चाहूँ तो......" वह बोली "......तो आपको आपत्ति होगी ?"

"आपत्ति कैसी" मैंने कहा "आप निःसंकोच चल सकती हैं, पर कुमार साहब से आज्ञा लेकर चलना ठीक होगा ।"

"उन्हें नींद से जगाना अच्छा न होगा" सुजाता ने उत्तर दिया ।

और तब, भोर की उस स्वर्णिम वेला में हम दोनों नदी के तट की ओर चल पड़े । जाती बार लछुवा को हम कुमार साहब से बता देने के लिये कह गये ।

सड़क को पार कर हम सीधे कोसी नदी की ओर बढ़ गये, उसके तीर पर स्थित बड़े-बड़े शिलाखण्डों पर चढ़ते-उतरते काफी दूर तक चले गये । हमारे सामने ही एक स्मशान भूमि थी, जहां कुछ देर के लिये हम ठहर गये । वहां मैदान के बीचों-बीच एक चिता अब भी दहक रही थी और दूसरी पर लकड़ियां चुनी जा रही थीं । वहीं पास में एक युवक का शव रख दिया गया था। पूर्व से तब भुवन भास्कर के उदित होने के चिन्ह प्रगट होने लगे थे और आकाश के एक भाग में लाल रंग की आभा चारों ओर फैल-सी गई थी ।

वहीं पर पश्चिम से बह कर आने वाली एक नालेनुमा नदी का संगम होता था और स्मशान भूमि उन दोनों के संगम स्थल के मध्य बनी थी । चारो ओर छोटे-बड़े पत्थर जमा थे। वे शायद कभी स्वतः ही नदी के बहाव द्वारा वहाँ आ गये होंगे, तब से अब तक वे उसी प्रकार पड़े हैं, ऐसा

लगता था ।

उसी मैदान में यत्र-तत्र चिताओं के जलाये जाने से भूमि पर काले-से निशान पड़ गये थे और कहीं चिता की राख पड़ी दिखाई दे जाती जिसका कुछ भाग मटमैला-सा प्रतीत होता । कहीं एकाध अस्थियां भी दिखाई दे जातीं, जिन पर निरन्तर वर्षा और धूप के आघातों से छलनी सदृश छेद हो गये थे। हम दोनों देर तक एक ओर बैठे मानव की उस अन्तिम विदा-भूमि की प्रत्येक चीज को देखते रहे । हमें अनुभव हुआ कि मनुष्य का गर्वोन्मत्त इतिहास कितना धुंधला हो गया है इस भूमि में ! धरती से लेकर आसमान तक की उड़ानें भरने का दम रखने वाला इन्सान यहां आकर सदा-सदा के लिये खामोश हो जाता है, उसकी सारी महत्वाकांक्षाएं, उमंगें और बड़े-बड़े स्वप्न यहां आने तक ठण्डे पड़ जाते हैं ।

युवक का वह शव उठाकर सजी हुई चिता पर रख दिया गया । एक व्यक्ति ने, जो सम्भवत: उसका पिता जान पड़ता था, आग देने से पूर्व अपनी आंखें कपड़े से ढक लीं । मुझे आज भी वह दृश्य ज्यों का त्यों याद है, जब पहली बार उसने अपने युवा पुत्र की चिता में आग दी तो हृदय का समस्त संयम तोड़ कर वह रो पड़ा । "अभागे !" उसने जोर से कहा था "बैरी ! बाईस वर्ष छाती पर लगाये रहने का यह फल तूने मुझे दिया !"

सुजाता उस दृश्य को देख कर सिहर उठी थी। उसने अपनी साड़ी के छोर को आंखों की कोर पर रख अनायास ही बह रहे अश्रुकणों को रोकने की चेष्टा की थी । इस घटना ने उसके अन्तरप्रदेश को किस प्रकार प्रकम्पित कर दिया था, इस बात का अनुभव मुझे तब हुआ जब उसे मैंने अपनी ओर सरकते और अपने घुटनों में मुंह छुपाते हुए देखा था ।

"क्या चलना चाहती हैं ?" मैंने पूछा था ।

"हां" वह कातर नेत्रों से मेरी ओर देखती हुई बोली "मैं पागल हो जाऊंगी ।" मैं बिना किसी प्रतिवाद के उसके साथ चल पड़ा । मैंने

यह स्पष्ट देखा था कि वहां से चलते समय वह अशक्त-सी हो गई थी शायद इसीलिये उसे मेरे कन्धों का सहारा लेना पड़ा था। दुःख की चरम सीमा, वीभत्सता की हद और अन्तर की चोट—दो हृदयों को अनायास ही एक दूसरे के निकट ला देते हैं—यह मैंने उस दिन, उस समय अनुभव किया, जब मैं सुजाता के शरीर का आधा भार अपने कन्धों पर लिये चल रहा था और वह अपनी क्षीण, तृणवत बांहें मेरी पीठ पर रखे धीमे कदमों से चल रही थी—जैसे उसके पैर ही गतिमान हों, बाकी शरीर निस्पंद हो गया हो।

सोमेश्वर से हमने अपना मार्ग एक विशेष लक्ष्य की ओर मोड़ दिया। अब तक हमारी यात्रा केवल भ्रमण पर आधारित थी और उस भ्रमण का कोई निर्धारित गन्तव्य न था। आखिर उस दिन हमने अपनी यात्रा का प्रथम चरण निर्धारित कर ही लिया। दिन के ग्यारह बजे काले-रतनारे बादलों की ओट में हम बद्रीनाथ के मार्ग पर चल पड़े। अपनी इस यात्रा में हमने निश्चय किया कि हम यहां के जन-जीवन की उमंगों के बीच से गुजरेंगे, हमारा मार्ग दुर्गम होगा, सुगम नहीं।

आकाश पर हल्के, मटमैले बादल छाये हुए थे, धीमी-धीमी हवा बह रही थी और कुमार साहब इस यात्रा के प्रसंग को लेकर अपनी यात्राओं के अनुभव सुनाते हुए मेरे साथ चल रहे थे। सुजाता, जो हम दोनों से कुछ आगे चल रही थी, विभोर-सी सामने वाली एक ऊंची-सी चट्टान की ओर देखती जा रही थी क्योंकि उसकी ऊंचाई आज का हमारा मध्यान्तर स्थल था। सामान लिये मजदूर अपने लम्बे-लम्बे डग तेजी से बढ़ाता हुआ आगे निकल गया था।

उसी दिन संध्या के समय हम प्राचीन मन्दिरों की नगरी द्वाराहाट पहुँच गये। इस बीच मार्ग में हम सब औपचारिक बातें ही करते रहे। सारे रास्ते कुमार साहब अपने सैनिक जीवन की रोचक घटनाएं सुनाते

रहे। कभी-कभी वे उन घटनाओं का वर्णन करते हुए इतने तल्लीन हो जाते, एवं विभिन्न पात्रों की भाषा व कथोपकथन का इतना सजीव चित्रण करते कि सारी घटना आंखों के आगे मूर्त रूप धारण कर लेती।

जब हम द्वाराहाट पहुँचने से पूर्व उखलेख की पहाडी के ढलान पर उतर रहे थे तभी वर्षा का एक हल्का सा झोंका आ गया, और जितनी-देर में हम सब बंधे हुए सामान में से बर्सातियां उतार कर पहनते उतनी ही देर में उन सींकदार पानी की बूंदों ने हमें भिगो दिया। कुमार साहब और मैं बिना अधिक शीत का अनुभव किये द्वाराहाट पहुँचने में सफल हो गये किन्तु वहां पहुँचने तक सुजाता को शीत ने जकड़ लिया और जब हम वहां के छोटे से 'साहू होटल' में पहुँचे तो उसे तीव्र ज्वर हो आया था।

कुमार साहब एक प्रकार से इन मामलों में बहुत कमजोर थे, आखिर उनके भीतर एक पिता का हृदय जो था। यह एक आश्चर्य की बात थी कि इतनी बड़ी बस्ती में एक भी डाक्टर न था क्योंकि वहां के लोगों ने डाक्टर का नाम सुना तो था पर उसके बारे में उनके विचार संकीर्ण थे।

हां वैद्य वहां दो चार अवश्य थे, किन्तु इस रात्रि में वे भी पास के ग्रामों में चले गये थे, जहां से नित्यप्रति वे अपने औषधालय में आते और शाम होते ही चले जाते। द्वाराहाट से प्रायः ढाई मील दूर एक ग्राम डिडौली था। किसी ने बताया कि वहां एक वैद्य रहते हैं, वैसे भी इलाके में वे प्रसिद्ध थे। कुमार साहब ने एक व्यक्ति से वहां तक की जानकारी प्राप्त की और उस अन्धकार भरी रात्रि को, जबकि बाहर मूसलाधार वृष्टि हो रही थी, वे वहां तक जाने को तय्यार हो गये। मैंने स्वयं जाने की बात की तो सन्दूक में से पिस्टल निकाल कर कमर में बाँधते हुए वे बोले "वहां जाने से आपका यहां रहना बेहतर होगा। फिर लछुवा तो मेरे साथ रहेगा।"

कम्बलों में लिपटी हुई सुजाता, जिसके स्वर में कँपकँपी थी, बोल उठी "डैडी ! यह मामूली-सा जाड़ा ही तो है। पसीना आने पर खुद ही ठीक हो जायगा……आप न जाएं डैडी ?"

उसकी बात को हँसी में टालते हुए कुमार साहब सीढ़ियाँ उतर गये। टार्च उनके हाथ में थी और पीछे-पीछे लछुवा चल रहा था।

उनके जाने के कुछ देर पश्चात तक मैं बैठा रहा और फिर सुजाता के लिये चाय का काढ़ा तय्यार करवाने होटल के निचले भाग में स्थित रसोईघर में चला गया। वह होटल क्या था, जैसे अरब की अलिफ लैला युग की सराय हो। छोटी सी एक कोठरी में चूल्हे के आसपास दो शिखाधारी ब्राह्मण रोटियाँ सेंक रहे थे और उसके पास ही एक छोटा-सा कमरा था, जिसमें काठ की चार-पाँच मेजें व बैंचें लगी थीं। वहीं एक घड़े पर लालटेन के सहारे होटल का मालिक अपने चार पाँच ग्राहकों को कोई साप्ताहिक समाचार-पत्र पढ़ कर जोर-जोर से सुना रहा था। उतनी पुरानी खबरें भी उन लोगों के लिये विशेष महत्व रखती थीं। कारण कि उस प्रदेश में दैनिक पत्र प्राय: कोई नहीं मँगा पाता और मंगाता भी है तो सात दिन की बासी खबरें ही उसके लिये नवीनतम होती हैं।

मुझे देखते ही वह अखबार रख कर खड़ा हो गया और सभी मेरी ओर देखने लगे। उनकी दृष्टि में हम संभ्रात और प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। उसने अधकचरी हिन्दी में कहा "क्या ल्याऊँ, बाब सैप* ?"

"अभी आप ऊपर दो गिलास चाय भिजवा दें। एक चाय में सोंठ, काली मिर्च और जरा अजवायन उबाल लेना !" मैंने कहा।

"अजवायन ?" उसके मुख से यों ही यह शब्द निकल गया, शायद वह अजवायन का अर्थ नहीं समझ पाया था। मुझे इस बात का पता तब चला जब एक अवकाश प्राप्त फौजी ने उसे बताया कि "देस में (पहाड़ों से नीचे) अजवायन जवांण को कहते हैं।"

---

* बाबूसाहब

सिर हिलाता हुआ वह रसोईघर में चाय के लिये कहने चला गया और मैं ऊपर चला आया।

मैंने देखा इतने सारे कपड़े ऊपर ओढ़ने के बाद भी सुजाता काँप रही है। अस्पष्ट से स्वर में वह कुछ बुदबुदाती भी जाती, पर ऊपर कई कपड़े पड़े रहने के कारण मैं कुछ सुन भी न पाया। तभी उसने मुँह के पास से सारे कपड़े हटा दिये। मैंने जब उसकी इच्छा के विरुद्ध उसका मुँह ढँकने की चेष्टा की तो वह चेहरे पर एक पीड़ित-सा भाव-लाते हुए बच्चों जैसे स्वर में बोली "दम घुट रहा है।"

"थोड़ी देर सहन कीजिये। पसीना आने पर सब ठीक हो जाएगा।" तब तक होटल का लड़का चाय और काढ़ा ले आया। मैंने काढ़े का गिलास एक हाथ में लिया और सुजाता को उठाने के लिये कम्बलों की कई तहों के नीचे दूसरा हाथ डाल कर उसकी गर्दन को सहारा दिया। वह मूर्तिवत बिना प्रतिवाद किये बैठ गई, जैसे उसे इस बात का पहले से ही आभास था कि उसे मैं काढ़ा पिलाने जा रहा हूँ। अपनी बाहों में उसकी गर्दन का भार लिये दूसरे हाथ से उसे मैं काढ़ा पिलाता गया। इस बीच वह कुछ न बोली केवल उसकी थकी आँखें कभी-कभी मेरे चेहरे पर जम जातीं और फिर ज्यों ही वह अनुभव करती कि मैं उसकी आँखों की एकाग्रता को लक्ष्य कर रहा हूं, तो तुरंत ही वह पलकें झुका लेती। उसकी उन झुकती हुई पलकों में नारी सुलभ लज्जा का भाव था और था पुरुष के प्रति नारी का कौतूहल! अन्तिम घूँट पीते-पीते उसका मुँह कुछ विकृत-सा हो गया, एक साथ ही अजवाइन के रस से सम्भवत: उसे कुछ चरचरापन या कड़वापन महसूस हुआ था।

गिलास खाली करके वह लेटने का उपक्रम करने लगी किन्तु इस बार उसके नेत्र मेरे नेत्रों के आगे देर तक ठहर गये। पलकें जहाँ थीं, वहीं ठहर गईं थीं। कुछ क्षण तक उन आँखों की ओर अपलक भाव से देखते रहने पर मुझे लगा जैसे उन आँखों की अथाह गहराई

में मैं डूब जाऊँगा और इनसे त्राण पाने का मुझे अवसर न मिलेगा। तभी उसने अपनी गर्दन तकिये पर लुढ़का दी। उसके शरीर पर कई स्थानों से कम्बल हट गया था, मैंने उसे उढ़ा दिया।

कुछ देर बाद मैंने पूछा "अब कैसी हालत है ?"

धीरे से उसने कहा "नाहक ही डैडी चले गये। मुझे तो इस चाय से त्राण मिल रहा है। लगता है कि एक घण्टे में ही ठीक हो जाऊँगी।"

"आप तो उनके जाने की बात को 'नाहक' कह रही हैं न" मैंने कहा "वह एक पिता के हृदय की भावना है, और जो भी उनके स्थान पर होता, वह यही करता।"

मेरी बात पर वह मुस्करा दी और उस समय उसके मुख मण्डल पर जो भाव लक्षित हुए, उनमें एक बचपना सा था, और था कुमार साहब के प्रति असीम श्रद्धा का भाव ! काफी देर के मौन को भंग करती हुई वह बोल उठी—

"आपकी जो यह निर्लक्ष्य यात्रा, निरन्तर चल रही है, इसके बारे में क्या मैं जान सकूँगी ?"

"अवश्य" मैंने कहा "क्या जानना चाहती हैं आप ?"

"यही कि···" कुछ रुकते हुए उसने कहा "यही कि यह कहाँ जा कर समाप्त होगी ?"

"यात्रा कभी समाप्त नहीं हुआ करती" मैंने उत्तर दिया "मनुष्य जब से अपने कर्मक्षेत्र में आता है, तब से जब तक उसका अन्त नहीं हो जाता, किसी न किसी रूप में किसी न किसी मार्ग का पथिक वह होता ही है। आप भले ही व्यावहारिक जीवन में यह सब स्वीकार न करें, किन्तु आप भी तो यात्री ही हैं।"

अपनी बात को वह टाल ही गई। बोली "फिर भी प्रत्येक का कोई न कोई लक्ष्य तो होता ही है।"

"क्षमा करें, दूर क्यों जाती हैं" मैंने कहा "क्या आप अपने लक्ष्य के बारे में कुछ बता सकेंगी ?"

"मेरा लक्ष्य ?" वह क्षण भर में म्लान हो गई। उसकी आँखें, जो लालटेन के मद्धिम प्रकाश में अपनी पृथक चमक से एक मोहक-सा आकर्षण बिखेर रही थीं, शून्य होगईं, जैसे वे पत्थर की हों। उसने दबे और पीड़ित स्वर से बात पूरी की "मेरा लक्ष्य क्या हो सकता है...... अधूरा लक्ष्य ले कर आई थी, चल दूँगी।"

"आप भ्रमित हो गई हैं। आशा और धैर्य संसार की अमर प्रवृत्तियाँ हैं। इनके सम्मिलन से मनुष्य नया जीवन, नई शक्ति प्राप्त करता है।" मैं उसका आशय समझ गया था, इस कारण, प्रस्तुत विषय को जान-बूझ कर नया मोड़ देना ही मैंने उचित समझा।

"आप ठीक कहते हैं" उत्तर में उसने कहा "वास्तव में आशा और धैर्य ये दो ऐसी बातें हैं, जिनके सहारे दुःखी व्यक्ति का समय कट जाता है।" उसके ओठों पर एक पीड़ित-सी मुस्कान खेल गई—एक ऐसी मुस्कान, जो केवल आँखों को ही छल सकती थी, हृदय को छलना उसके बस की बात नहीं थी।

बाहर हल्की-सी बूँदा-बांदी शुरू हो गई थी। कुमार साहब को गये भी काफी समय बीत चुका था। सुजाता के शरीर में धीरे-धीरे गर्मी आती जा रही थी। काफी देर से वह निचेष्ट-सी पड़ी थी। बीच में कभी वह लेटे-लेटे कुमार साहब के बारे में चिन्ता व्यक्त कर देती। मेरी आंखें भी बरबस सड़क की ओर ही लगी थीं। ज्यों ही कहीं कोई आहट होती, मैं चौंक कर बाहर देखने लगता पर कुछ ही देर में सारी आशा निराशा में बदल जाती, जब मैं देखता कि अंधेरे में चला आ रहा वह व्यक्ति कोई और है।

इसी प्रकार रात्रि के दस बज गये। होटल का मालिक खाने के लिये पूछने आया तो मैंने उससे यही कहा कि वह खाना ढक कर ऊपर ही रख जाए। हम सब साथ ही खाएंगे। कुछ समय बाद वह तीन थालियों में खाना ढक कर रख गया और प्रतीक्षा करते हुए ग्यारह बज गये। सुजाता को धैर्य देना मेरे लिये कठिन प्रतीत होने लगा, वह मना

करने पर भी बैठ जाती। मैं उसे समझाने की चेष्टा अवश्य करता किन्तु चारों ओर आच्छादित अन्धकार और मूसलाधार वृष्टि को देख बिभिन्न प्रकार की डरावनी कल्पनाएं अनायास ही मन को भयभीत कर देतीं। कुछ देर पूर्व होटल वाले ने भी कहा था कि इतनी दूर तो वह जगह नहीं है। इन सब से चिन्ता बढ़ती जा रही थी।

साढ़े ग्यारह बजे होंगे, जब सुजाता उठ बैठी। बोली "मैं कोई जोर तो आप पर दे नहीं सकती, पर इसे चाहे जो भी समझ लें। आपको उनका पता तो लगाना ही चाहिये।"

"मुझे कोई इनकार हो सकता है, ऐसा आप सोचती हैं तो मैं क्या कह सकता हूँ, पर इस हालत में आपको छोड़ कर जाना मेरे लिये सम्भव नहीं है।" मैने उत्तर दिया।

जैसे मैंने कोई अनोखी और स्वार्थ पूर्ण बात कह दी हो, वह चौंक पड़ी। उसकी आँखों में क्रोध की एक हलकी-सी प्रतिच्छाया स्पष्ट हो गई।

रोषपूर्ण स्वर में उसने कहा "मुझे आपकी सहानुभूति की कोई आवश्यकता नहीं। मेरी ओर से आप निश्चिन्त रहिये। जितना कुछ आज तक देख चुकी हूँ उससे मैं अपनी रक्षा तो कर ही सकती हूँ। शायद आप यह भूल गये कि मैं कर्नल कुमार की बेटी हूँ। आप पर मेरा कोई जोर है, ऐसा मैं नहीं मानती तो भी स्वयं तो उनकी खोज में जा ही सकती हूँ।"

"सुजाता जी" मैंने रुद्ध कंठस्वर में कहा "आप इस समय मेरे संरक्षण में हैं। कम से कम मैं तो शक्ति रहते आपको इस हालत में उठने न दूँगा।"

"आप ?" क्रोध में तमतमाते हुए उसने कहा "आप तो कुछ भी नहीं हैं, मुझे कोई शक्ति रोक नहीं सकती" उसके ओठ काँप रहे थे। कपोलों पर रक्त की लालिमा उभर आई थी। उसने उसी हालत में कम्बल फेंक दिये और उठने की चेष्टा की।

दुस्साहस की बात विस्मृत नहीं हुई। न जाने किस शक्ति के अव-लम्बन पर समस्त संकोच त्याग मैं उसकी चुनौती को स्वीकार कर बैठा। लपक कर मैंने उसे दोनों हाथों में कस लिया और क्षण भर में वह अपनी शैया पर थी। यह सब पलक मारते ही हो गया। शैया पर गिरते समय उसकी आँखें अंगार के सदृश लाल हो गई। क्रोध में उसका अंग-अंग फड़कने लगा। से बारूद जैभरे घड़े में विस्फोट हो गया हो। गरज कर उसने कहा "मैं नहीं जानती थी कि आप इस भोले से चेहरे के पीछे कोई और ही चेहरा छिपाए हैं, पर यह याद रखिये कि सुजाता जीते जी आपकी किसी भी कुत्सित भावना को सफल न होने देगी··· इन्सान कितना बुरा होता है······छि।"

अपने शब्दों को समाप्त कर उसने एक बार भर्त्सना और तिरस्कार-पूर्ण नेत्रों से मुझे देखा और फिर जमीन पर थूक दिया।

हृदय भर आया था और एक-एक क्षण काटना भी भारी हो रहा था किन्तु न जाने वह कौन सी प्रेरणा थी जिसके कारण यह सारा अपमान मैं पी गया। आज तक ऐसे न जाने कितने मान अपमान मैं आँखें बंद कर पी गया हूँ। न जाते कितने लाँछन, कितने तिरस्कार मैंने सहे हैं। इसके बाद भी मैं जीता चला आ रहा हूँ। सामान्य व्यक्ति भले ही इसे मेरी कमजोरी का नाम दें, पर मेरा मानस ऐसी चोटों को सहने का आदी-सा हो गया है। जैसे सुन्दर बेल बूटेदार कालीनों को अच्छे-बुरे व्यक्तियों के जूतों का प्रहार सहने पर भी मानापमान की अनुभूति नहीं होती उसी प्रकार कुछ मेरा मानस भी हो गया है। उस निर्जीव कालीन और मेरे चलायमान मानस का यह साम्य आपको विचित्र अवश्य लगेगा पर है यह सत्य।

तभी सीढ़ियों पर खट-खट की आवाज हुई और पानी से लथपथ, कुमार साहब भीतर प्रविष्ट हुए। उनके पीछे हाथ में एक बड़ा-सा थैला लिये एक वयोवृद्ध वैद्य थे। लछुवा बाहर बरामदे में ही भीगे कपड़े उतारने लगा। कुमार साहब बरसाती ओढ़े रहने पर भी काफी भीग गये थे।

उनकी मूँछों पर पानी की कुछ बूँदें अटक कर चमक रहीं थीं और पैंट के पाँवचे कीचड़ में सन गये थे। वह वृद्ध व्यक्ति कोई साठ के आस-पास की आयु के होंगे, उनके चेहरे पर झुर्रियां साफ परिलक्षित होती थीं किन्तु खून की इतनी कमी न होने के कारण वे खलती नहीं थी। वे छाता लगा कर आये थे अतः उन्होंने भीतर आते ही उसे बन्द कर दरवाजे पर लटका दिया।

कुमार साहब ने सुजाता को कम्बलों से बाहर देखा, तो उन्होंने बलपूर्वक उसे उढ़ाते हुए कहा "यह कपड़े क्यों नहीं ओढ़ती हो...देखो तो, बाहर से कितनी सर्द हवा आ रही है" !

"डैडी, अब मैं ठीक हूँ" सुजाता ने कहा और फिर मेरी ओर संकेत करते हुए कहा "इन्होंने काढ़ा पिलाया था, उससे मैं ठीक हो गई। पर डैडी, इतनी देर क्यों हुई आपको?"

"बहुत दूर जगह थी बेटा" वे बोले "फिर रात सर पर थी। नदी के पार जाना पड़ा।" उन्होंने स्नेह से सुजाता के माथे पर हाथ फेरा। वैद्य जी ने सुजाता की नब्ज देखी, फिर कुछ सोच कर उन्होंने कहा "सर्दी लग गई है, कोई खास बात नहीं है।" उन्होंने कुछ पुड़ियाँ बना कर कुमार साहब को देते हुए कहा "मैं अब चलूँगा, सुबह तक दो-दो घण्टे बाद इन्हें सादे पानी के साथ देते रहें। ठीक हो जायेंगी।"

कुमार साहब ने टोका "इतनी रात गये कहां जाएंगे आप ?"

"नहीं, मैं अब घर नहीं जाऊँगा" उन्होंने कहा "औषधालय में बिछौना पड़ा है, वहीं आराम करूँगा।"

मैं अब तक चुपचाप खड़ा था, मैंने कहा "मेरी राय में यहां आप आराम से रह सकेंगे।"

"नहीं" उन्होंने कहा "वहाँ जाना ही ठीक रहेगा। सुबह ही एक मरीज को देखने पास के गांव में जाना है। रात को ही दवाइयाँ ठीक कर लूँगा।" और वे उठ गये।

कुमार साहब सीढ़ियों तक उन्हें छोड़ने गये और फीस देकर लौट

आये। आते ही उन्होंने कहा "भगवान का शुक्र है कि सुजा ठीक हो गयी, मैं तो घबरा गया था।" फिर मेरी ओर देखते हुए बोले "आपको खूब कष्ट दिया मैंने !"

"नहीं कष्ट कैसा !" मैंने कह दिया "कोई बोझ तो उठाया नहीं, हां आप खाना खा लें।"

"ओह हाँ" कह कर कुमार साहब थालियां पास सरका कर खाने बैठ गये। एक थाली बरामदे में लछुवा को दे दी गई। ज्यों ही कुमार साहब ने मेरी ओर थाली सरकाई, मैंने इन्कार कर दिया। मेरी बात से उन्हें आश्चर्य हुआ। बोले—

"क्यों क्या बात है ?"

"बात तो कोई नहीं है।" मैंने उनकी शंका दूर की "शाम तक तो ठीक ही था, इसलिये होटल वाले को खाना लाने से इन्कार न कर सका और अब पेट में इतनी जलन है कि खाने की कल्पना से ही जी भर आता है।"

"फिर भी; एकाध रोटी खा लेने से कुछ न होगा, सारे दिन चले हैं, पेट में कुछ तो पड़ना ही चाहिये।" वे बोले।

"मैं आपके आने से पहले चाय ले चुका हूँ" मैंने कहा "आज मुझे ऐसे ही रहने दीजिये।"

"अच्छा" वे बोले और उन्होंने रोटी के कौर तोड़ने प्रारम्भ कर दिये। सुजाता के खाने का कोई प्रश्न ही न था, पर वह लेटी-लेटी मेरी ओर देखती रही। वह मेरे उपवास के कारण से भली-भाँति परिचित थी, और यह सत्य था कि कुछ देर पूर्व के उस प्रसंग ने मेरी भूख, प्यास सभी मिटा दी थी। उसकी आँखों में पछतावे और प्रायश्चित जैसे भाव थे। वह एकटक मेरी ओर आँखें गड़ाये देखती रहती किन्तु ज्यों ही मेरी पलकें ऊपर उठतीं, उसकी पलकें स्वतः ही नीचे झुक जातीं, जैसे उनमें घोर पराजय छिपी हो। मुझे रह-रह कर वही घटना याद आ जाती। मन के कोने-कोने से स्वयं के प्रति भर्त्सना

के विचार आने लगे। इतने लाँछन, इतने अपमान मैं क्यों सह गया भला ? क्या मेरा अब तक का आत्मसम्मान कहीं तिरोहित हो गया ?

कुमार साहब खाने से निवृत्त होकर अपने पाइप में तम्बाकू भर रहे थे, तब तक मैंने सोने की व्यवस्था कर डाली। कमरा वैसे बहुत बड़ा नहीं था। कुमार साहब सुजाता के पास ही सोते थे। मैं पूरब की ओर खुलने वाली खिड़की के पास बिस्तर बिछाकर उस पर बैठ गया। कुमार साहब भी अपने बिस्तरे पर लेट गये।

तभी मन में एक विचार उठा—क्यों न मैं इनका साथ छोड़ दूँ ! इतना अपमान सहकर भी इनके साथ रहने की कोई भीष्म प्रतिज्ञा तो मैंने नहीं की है, अपनी आत्मा को हेय मान कर मैं यह मित्रता निभा भी तो न सकूँगा ?

शायद कुमार साहब ने मेरी परेशानी कुछ-कुछ भाँप ली थी, तभी उन्होंने कहा "आज आप परेशान से क्यों लग रहे हैं ?"

"नहीं तो" मुख पर कृत्रिम भाव लाते हुए बोला, "मैं बिल्कुल ठीक हूँ।"

हम सभी उस रात्रि बेहद थकान अनुभव कर रहे थे, इधर वर्षा का क्रम समस्त रात्रि चलता रहेगा ऐसा लग रहा था। ठण्ढ अधिक हो गई थी और इससे पलकें स्वतः ही भारी होने लगी थीं। कुमार साहब अब कम्बल ओढ़कर सो गये थे और इनकी चुप्पी इस बात का संकेत कर रही थी कि धीरे-धीरे वे निद्रा के आँचल में लीन होते जा रहे हैं।

उनकी दांयी ओर सुजाता लेटी हुई थी। वह अब भी तीन कम्बल ओढ़े थी किन्तु उन कम्बलों से बाहर झाँकती उसकी आँखें चमक रही थीं। कभी-कभी जब मैं उसकी ओर देखता तो वह पलकें बन्द कर यह जताने का अभिनय-सा करती, जैसे वह प्रगाढ़ निद्रा में लीन हो, किन्तु यह बात मेरी आँखों से छिपी न रहती।

उधर मैं था कि थकान होने पर भी विचारों का अन्तर्द्वन्द्व मेरी आँखों से नीद को उड़ाये लिये जा रहा था। जब किसी प्रकार भी

अपने आपको संयत करने में मैं सफल न हो सका तब अटैची से मैंने एक पुस्तक निकाल ली। उसमें सुविख्यात फ्रैंच उपन्यासकार ज्योला ने एक ऐसी नारी का चित्रण किया था जो इन्द्र धनुष के रंगों के समान अपने मन के रंगों को क्षण प्रतिक्षण परिवर्तित करती रहती थी। आशाओं और निराशाओं के बीच में झूलती वह कभी जीवन के लोल-कल्लोलों से विरक्त हो जाती और कभी अपने पवन के समान वेगवान एवं बरसाती बाढ़ के समान चंचल मन की तीव्र धारा में स्वयं को बहा ले जाती। कभी गंगोत्री के जल के समान पवित्र, सुमेरु के समान अचल चरित्र की गरिमा में विचरण करती वह स्वयं को महान समझने लगती—ऊंचे सात्विक भावों में वह मरियम के सदृश अनुभूतिशील बन जाती। लेकिन वासना और आकर्षण उसे अधिक समय उस स्थिति में न रहने देता और तब वह प्रत्येक सुन्दर पुरुष को एक ही रूप में देखती। प्रत्येक उपन्यास की नायिका से अपनी तुलना करती।

अद्भुद् चरित्र था उसका। मैं उसकी जैसी लड़की को ही कल्पना का आधार मान सोच रहा था कि क्या वास्तव में नारी हृदय से इतनी दुर्बल होती है ? अपने मन और भावनाओं पर वह नियंत्रण नहीं कर सकती ? इसका उत्तर तो मुझे न मिला किन्तु मन को यह स्वीकार करना पड़ा कि इतने बड़े संसार में प्रत्येक की विभिन्न भावधाराएं हैं और उन भावधाराओं में अनायास ही मानव को बहा ले जाने वाली शक्ति का नाम है, समय।

अकस्मात सुजाता उठ कर बैठ गई। उसने पास लेटे कुमार साहब की ओर ध्यान से देखा और फिर बिस्तर से खड़ी हो गई। मैंने एक बार उचटती दृष्टि से उसकी ओर देखा किन्तु शीघ्र ही मैं पुनः अपने उपन्यास में खो गया। मेरा ऐसा करना स्वाभाविक न था किन्तु मनुष्य के हृदय में अहंकार की जो भावना पनपा करती है उस समय मैं उससे अछूता न रह सका। अतः सुजाता की ओर न देख पाने के लिये मुझे यह अभिनय-सा करना पड़ा। वह रुग्ण थी, इसलिए क्षोभ

होने पर भी हृदय में उसके प्रति सहानुभूति थी। वह इस प्रकार क्यों उठ खड़ी हुई? क्या वह पानी या कोई अन्य चीज लेने तो नहीं उठी? प्रश्न मन में उठ रहे थे। अस्वस्थता की स्थिति में वह स्वयं कुछ करे या हाथ पैर हिलाये, इसका मुझे दुःख था किन्तु इस पर भी मैं चुप रहा। मैंने उचटती दृष्टि से देखा तो वह चेस्टर की जेब से पेन निकाल कर और लालटेन की रोशनी में कुछ लिख कर कागज को मोड़ रही थी। अभी मैं कुछ सोच भी नहीं पाया था कि वह मेरे निकट आ गई। उसने एक चिट मेरे सामने फेंक दी और फिर उसी प्रकार जा कर लेट गई।

धड़कते हृदय से मैंने चिट पढ़ी। लिखा था :

कमजोरियाँ कभी-कभी बहुत दुःखी कर देती हैं, यह जानते हुए भी जो गर्हित अपराध कर बैठी हूँ उसके लिये समस्त रात्रि पश्चाताप करूँगी, इसके पश्चात भी मन को शान्ति तभी मिलेगी जब आप खाना खा लेंगे। इस उपवास की जड़ में जो है वह मैं जानती हूँ।

क्षमा योग्य

सुजाता

उस पत्र को पढ़ कर हृदय एक क्षण में बह गया। यही तो अहंकार चाहता था। उसे तो चरित्र को बाँस पर टाँगने की भूख होती है। जैसे मन ने एक बहुत बड़ी लड़ाई जीत ली हो, वह शान्त हो गया। इसके पश्चात उठने लगा मानव मन के निष्पक्ष न्यायवान भावों का अन्तर्द्वन्द्व और उसने विजयी मन की अहंभावना को ठोकर मार दी और अनुभव हुआ कि जैसे मैं जीत कर भी हार गया हूँ और वह हार कर भी जीत गई है।

मैंने एक बार उसकी ओर देखा और पाया कि उसके नेत्र आशा पूर्ण भाव से मेरी ओर ही स्थिर हैं; मानो वे अपनी बात का उत्तर पाने के लिये व्यग्र हों। मैंने और विलम्ब न किया। चुपचाप उठ कर सामने रखी थाली में से तीन चपतियाँ खा लीं। पानी पी कर जब मैं पुनः अपने स्थान पर लेटा तो मैंने देखा उसके मुख पर एक सन्तोष की

मुस्कान थी। नींद अब उचट चुकी थी अतः मैं लेटे-लेटे उस उपन्यास को ही पढ़ने लगा। कुछ समय बीत जाने पर वह पुनः उठी और पहले के ही समान मेरे पास आ कर खड़ी हो गई। उसने धीरे से मेरे हाथ से उपन्यास ले लिया तथा उसे अपने सिरहाने दबा वह लालटैन ले गई। इससे पूर्व उसने कंबल खींच कर मेरे शरीर पर फैला दिया और फिर प्रकाश बुझा कर वह स्वयं भी सो गई। मैं स्तब्ध था।

सुजाता के इस व्यवहार में कौन सी भावना छिपी थी यह तो मैं न जान पाया किन्तु इतना अवश्य जान गया कि उसके काम में मानवीय सहानुभूति एवं नारी के कोमल हृदय की पवित्रतम भावनाएं सन्निहित थीं। सम्भवतः सारे दिन की थकान के बाद मेरा यह जागरण उसे अच्छा नहीं लगा था और वह चाहती थी कि मैं विश्राम करूँ।

और तब विचारों के प्रवाह में डूबता-तैरता मैं निद्रा का आवाहन करने लगा। वह आई और मुझे एक अनोखे स्वप्न लोक में ले गई।

———

चार

अगले दिन प्रातः ही मेरी नींद खुल गई। पुनः सोने की चेष्टा करने पर भी सफलता न मिली। उठकर खिड़की से बाहर देखा तो आकाश में बादल छाए हुए थे और अभी पूरा प्रभात नहीं हो पाया था। इसलिए बाजार में एक सन्नाटा-सा छाया हुआ था। बाजार के बीच की सड़क गीली पड़ी थी और उसके गीलेपन से एक सोंधी-सी महक निकल रही थी, जो वर्षा के पानी से जमीन गीली हो जाने पर अक्सर निकला करती है। वह सड़क आगे जाकर दो स्थानों को मुड़ जाती है। वहाँ से एक रास्ता नीचे ढलान की ओर जाकर आगे दिखाई नहीं देता था क्योंकि ढलान गहरी थी और दूसरा रास्ता सरकारी मिशन हाईस्कूल की ओर मुड़ जाता था। दूसरी एक जगह पर मिशन हाई स्कूल का भवन स्पष्ट सा चमकता दिखाई दे रहा था। स्कूल का भवन सफ़ेद चूने से पुता था और उसकी छतें टीन की चादरों से ढकीं थीं। इसी कारण भोर के क्षीण प्रकाश में भी वह अपनी चमक दिखा रहा था। सामने एक ऊँची पहाड़ी खड़ी थी, जिसकी दर्जनों शाखाओं में तब हरे वृक्षों के सघन समूह इस प्रकार एकाकार हो गए थे जैसे वे एक दूसरे से पृथक न हों।

अनायास ही प्रातःभ्रमण की अपनी इच्छा को मैं रोक न सका पर सुजाता के साथ प्रातःभ्रमण का आदी हो जाने पर अकेले जाना मुझे अवश्य अखरा किन्तु मन में उस अभाव को दबा कर मैं अकेले ही रबड़ के जूते पहन कर द्वार खोल, बाहर निकल आया। कुमार साहब और सुजाता, दोनों ही, गहरी निद्रा में लीन थे।

कन्धे पर मैंने एक हल्की-सी ऊनी चादर ले ली थी, फिर भी जब कोई हवा की शीत लहर पर्वतों को चीर कर मेरे अंग से टकरा जाती

तब क्षण भर के लिए शरीर सनसना कर रह जाता। किन्तु वह ठंड ऐसी ही लगती जैसे वह सारे आलस्य को अपने साथ लिए व्योम में विलीन हो गई हो।

कच्ची सड़क खूब गीली थी और जहां चिकनी मिट्टी जम गई थी वहां फिसलने का डर बना रहता। रबड़ के जूते पहने रहने के कारण मैं सावधानी के साथ ढलान वाली सड़क पर नीचे उतरने लगा। आगे चल-कर नीचे का दृश्य साफ़ दिखाई देने लगा। एक गहरी-सी घाटी के चारों ओर पर्वत-शाखाएँ फैली हुई थीं। जिनमें चीड़ के पेड़ों की बहुतायत थी। समस्त रात्रि वर्षा में भीगते रहने के कारण उनकी रेशेदार टहनियां नीचे की ओर झुक गई थीं। यदा-कदा बांज के पेड़ भी दिखाई दे जाते, पर बहुत कम। नीचे लगभग डेढ़ मील के उतार के बाद एक पतली-सी नदी बहती दिखाई दे रही थी। उसके आस-पास कुछ छोटे-छोटे खेत थे जो क्यारियों के समान दिखाई देते। चीड़ के जंगलों के बीच एक टीले पर एक बड़ी-सी इमारत चमक रही थी। वर्षा में भीग कर बह गई उसकी सफ़ेदी अब भी दिखाई दे रही थी।

मैं दूर-दूर तक दृष्टि दौड़ाता हुआ एक ऊँचे-से टीले पर चढ़ गया। तब तक सवेरा अपने पूर्ण स्वरूप पर आ गया था। किन्तु आकाश में घटाएँ छाई होने के कारण सूर्य की किरणें चट्टानों के बीच ही छिपी रह गईं। टीले पर से चारों ओर फैला हुआ द्वाराहाट अद्भुत लग रहा था। उसमें नगर के चारों ओर फैले हुए मन्दिरों को देखकर लगता जैसे सचमुच वह मन्दिरों की ही नगरी है। मैं देर तक नगर की छटा देखता रहा और जब मेरी दृष्टि पीछे की ओर मुड़ी तो एक भाव-विभोर हो जाने वाला दृश्य देखकर मैं आनन्दातिरेक से विह्वल हो उठा।

दूर बादलों के घेरे में सहस्रों हरी-भरी पहाड़ियों के बीच हिम-मंडित चट्टानें चमक रही थीं। यद्यपि वह स्थान यहाँ से कई मास का पैदल मार्ग था और वहां पहुँचना कठिन ही नहीं बल्कि इस मौसम में

दुःसाहस से कम न था किन्तु मुझे लगा जैसे मेरे पांवों में पंख लग आए हों और मैं तीव्र-गति से उन चट्टानों को छू लेने के लिए आकाश में उड़ा चला जा रहा हूँ।

क्या यही वह स्थान है, जिसे लोग हिमालय कहते हैं? क्या यहीं पर संसार से विरक्त लोग आत्मा की शान्ति के लिए आराधना करते हैं? हाँ, यही वह सुरम्य स्थल होगा जहाँ की एक झलक भी मनुष्य की समस्त द्विधाओं को क्षण भर के लिए अपनी ओर खींच लेती है। वहाँ पहुँचने पर मनुष्य को साधना जैसी किसी क्रिया का अवलम्ब लेने की आवश्यकता ही न होती होगी—मैं बैठा हुआ उन श्वेत दूधिया रंग की चट्टानों को देखता जा रहा था और तब मुझे इतनी ही शान्ति अनुभव हो रही थी जैसे किसी प्यासे को जल मिलने पर होती है।

विचार तेज़ी से मेरी आत्मा में प्रकाश भर रहे थे और तब एक साथ इतने विचारों की सृष्टि से ऊबने के बजाय स्वयं को मैं हल्का अनुभव कर रहा था। क्षण भर के लिए लाखों वर्ष पूर्व के एक महापुरुष का मुझे स्मरण हो आया जिसने हिमालय से कन्या कुमारी तक एक महान आध्यात्मिक संदेश गुंजरित कर सारे भारत को विस्मित कर दिया था। महात्मा शंकराचार्य और आध्यात्म की पुनीत पावनी धारा से त्रस्त-विश्व के अशान्त वातावरण में शान्ति का संदेश प्रवाहित करने वाले उन अन्य महापुरुषों के सम्मान में मैं मन में भाव-विभोर हो गया। मुझे लगा जैसे इन ऊंचाइयों में ही शान्ति बसी है और इस सुन्दरता में ही प्रकृति की अनन्त सृष्टि का स्रोत है! स्वर्ग और मोक्ष के लिए किसी काल्पनिक लोक की बात सोचना मुझे एक बचपना-सा लगा। मन ही मन मैंने कहा—'क्या यह स्वर्ग से कम सुन्दर है?'

बादल क्रमशः छटते जा रहे थे और दिवाकर की धवल किरणें उस हिम-खण्ड पर पड़ने लगीं थीं, तब एक अद्भुत-सी छटा दिखाई पड़ रही थी। कुछ देर पूर्व ही जो स्थान श्वेत हिम से आच्छादित रजत-मंडित से दिखाई पड़ रहे थे वे अब स्वर्ण-मण्डित-से लगने लगे और

एक ऐसी द्युति-झलकी जो कल्पनाशील व्यक्ति को अपनी ओर खींच ही लेती है। आत्मा और शरीर का सम्बन्ध एक विडम्बना-सी लगी और आश्चर्य भी हुआ कि जिस शरीर के आगे आत्मा को हम गौण समझते हैं वह यहीं भटकता रहा और आत्मा सैंकड़ों मील की दूरी लांघ कर क्षणभर में वहां का सन्देश ले आई।

मैंने देखा, काफी समय बीत चुका है। कुमार साहब मेरे विषय में चिन्तित होंगे। यही सोचकर मैंने अपनी मधुर कल्पना भंग कर दी और ऊबड़-खाबड़ जमीन को रौंदते हुए मैं नीचे की सड़क पर आ गया। अब मेरे सामने बड़ी चौड़ी घाटी थी, उसके आस-पास बसे छोटे-छोटे गांव थे और थी दूर बह रही वह पतली-सी नदी जो सांप के आकार की तरह टेढ़ी-मेढ़ी हो गई थी।

लगभग पौन घण्टे के बाद मैं अपने बसेरे में पहुँच गया। सीढ़ियां चढ़कर ऊपर पहुँचा तो कुमार साहब और सुजाता को चिन्तित देखा। कुमार साहब इसलिए चिन्तित थे कि इतने सवेरे बिना सूचना दिए मैं कहां चला गया। यह क्षेत्र जंगली होने के कारण यहां हिंस्र पशुओं का भय बना रहता था। किन्तु सुजाता की चिन्ता आन्तरिक थी। जब मैंने उसकी ओर देखा तो उसकी आंखों में एक पश्चाताप का भाव पाया। उसके चेहरे पर एक भोला और सौम्य दुःख एवं पुतलियों में एक गहरी कातरता पाई। उसने एक पल को मेरी आंखों में अपनी दृष्टि स्थिर रक्खी और फिर कुमार साहब की ओर देख पलकें झुका लीं, जैसे बाधित होकर उसे ऐसा करना पड़ा हो।

मुझे देखते ही कुमार साहब ने कहा—"इतनी सुवह कहां हो आए ?"

मैंने संक्षेप में अपने प्रातःभ्रमण की बात उनसे बताई और चूंकि कुछ देर पूर्व का वह दृश्य अभी तक मेरे हृदय में ज्यों का त्यों अंकित था अतः बहाव में रोचक ढंग से वह सभी कुछ मैं कह गया, जो मैंने अनुभव किया था।

कुमार साहब उत्सुकता से मेरी बातें सुनते रहे और बातों के बीच

जहां गहरे भाव आ जाते वहां उनके बूढ़े चेहरे पर एक चमक-सी आ जाती और कुछ देर वे खो-से जाते ।

इसी बीच सुजाता ने मेरी ओर लक्ष्य करके कुमार साहब से कहा "डैडी, अब तो चाय के लिए कह दीजिए, काफी देर हो गई है।" अपनी बात समाप्त कर एक बार पुनः उसने उचटती दृष्टि से मेरी ओर देखा और फिर मुझे अपनी ओर दृष्टि स्थिर किए देख वह अपने सारे शरीर को देख गई । जैसे वह यह जानने की चेष्टा कर रही हो कि मेरी दृष्टि कहां जाकर स्थिर हो गई है । तभी कुमार साहब ने बरामदे में बैठे लछुवा को आवाज देकर कहा—"भय्या, जरा नीचे चाय के लिए तो कह देना ।"

सिर हिलाता हुआ लछुवा नीचे चला गया । कुमार साहब तब मिर्जा गालिब की कोई पुस्तक देख रहे थे । उन्होंने मिर्जा गालिब के बारे में कई बातें कहीं । वे उनसे बहुत प्रभावित लग रहे थे ।

इसी बीच चाय आ गई । सुजाता ने पीतल के ग्लास देखकर कहा "डैडी, यह कैसी चाय है ?"

कुमार साहब उसकी ओर देखकर मुस्करा दिए । जैसे सुजाता का प्रश्न किसी अबोध शिशु की जिज्ञासा जैसा था । "बेटा यहां ट्रे कौन रक्खेगा, देखती नहीं हो पहाड़ी इलाका है ।"

"क्या ये लोग ट्रे नहीं रख सकते ?"

"नहीं रे पागल" मीठे दुलार के स्वर में वे बोले—"यहां ट्रे में चाय पीने वाले क्या सदा आते रहते हैं ?"

उनकी बात सुनकर सुजाता की घूमती हुई दृष्टि एक बार मुझपर आकर ठहर गई, पर शीघ्र ही उसने मुंह दूसरी ओर कर लिया । उस की इस क्रिया में एक झेंप का-सा भाव छिपा था । शायद वह अपनी बच्चों जैसी बात से लजा गई हो ।

चाय पीते हुए कुमार साहब ने कहा "आज का क्या प्रोग्राम बनाया है आपने ?"

"प्रोग्राम क्या ?" मैंने उत्तर दिया "एक बार यहां की ऐतिहासिक चीज़ें देख लेंगे।"

"क्या आज ही हम यहां से चल पड़ेंगे डैडी ?" सुजाता ने मेरी बात के बाद प्रश्न किया।

इस बार मुझे ही मुँह खोलना पड़ा। कुमार साहब की ओर देखकर मैंने कहा—"मेरी राय में आज तो हमें यहाँ ठहरना ही होगा। कई ऐसी चीज़ें यहां हैं जिन्हें देखे बिना यहां से जाना उचित न होगा ... और भी एक जगह है...यदि आप चल सकें तो..."

"कौन सी जगह ?" वे बोले।

मैं उन्हें बरामदे में ले गया और फिर पूर्व की ओर स्थित उन्नत भाल द्रोणगिरि-शिखर-माला उन्हें दिखाई। द्वाराहाट नगरी से कोई हजार फीट की ऊंचाई पर स्थित इस शिखर पर एक पुरातन मन्दिर है। मैंने कुमार साहब से जब ऊपर चढ़ने की इच्छा प्रकट की तो वे तुरन्त ही बोल उठे—"आप जैसा चाहें, मुझे इसमें क्या ऐतराज हो सकता है।"

सुजाता, जो एक ओर खड़ी अपनी साड़ी को बंटने का उपक्रम-सा कर रही थी बोली—"अच्छा होता सुबह ही कुछ देर हम टहल लेते।"

"हां बेटा तुम टहल लो,"—कुमार साहब ने कहा—"मैं तो अभी बैठ कर दो चार ख़त लिखना चाहता हूँ। यहां डाकखाना भी है, क्यों न इसका लाभ उठाया जाय।"

"फिर अकेले ही मेरा जाना कैसे हो सकेगा ?"—मेरी चर्चा किए बिना ही उसने पूछा।

"अरे तो कुमारेश बाबू को साथ लेती जाओ न। मैं फिर चला चलूँगा।"

सुजाता ने इसके बाद कोई प्रतिवाद न किया। एक बार फिर से मेरी ओर देख कुछ ऐसा भाव प्रकट किया जैसे वह कुमार साहब की आज्ञा का पालन मात्र कर रही है और उसे मेरे साथ अकेले जाने में उतना उत्साह नहीं, जितना होना चाहिए था।

कुमार साहब अपने सूटकेस से कागज निकाल कर लिखने योग्य मूड बनाने के लिए अपने पाइप से धुआं छोड़ने लगे थे। उन्होंने कलम पकड़ते हुए एक बार मेरी ओर देख कर कहा—"आप हो आइए न ?"

"हां—" मैंने कहा—"अब चलता हूँ।"

और फिर कुछ ही देर में मैं तय्यार हो गया। सुजाता ने उस दिन सफेद जार्जेट की साड़ी पहनी और एक बाघम्बरी रंग का ऊनी कोट चढ़ाकर वह चलने के लिये पूरी तरह तैयार हो गई। इस वेशभूषा में वह बहुत ही आकर्षक लग रही थी। उसने पैरों में कामदार जनाने जोड़े पहने थे और बालों का जूड़ा साधारण ढंग से बांध रक्खा था। एक शिक्षित नारी जिस प्रकार सज-धज कर प्राकृतिक सौन्दर्य को लांघ एक कृत्रिम सौन्दर्य धारण कर लेती है, वैसी कोई भी बात उसमें नहीं थी। इतना होने पर भी उसकी सुन्दरता एक पवित्र भाव की सृष्टि कर रही थी।

जब हम दोनों बाजार से बाहर डिडौली के मार्ग पर निकले तो हल्की-सी धूप निकल आई थी। सड़क के पूर्व की ओर बहने वाली एक छोटी-सी नदी के किनारे पुरातन मन्दिर शान्त मुद्रा में खड़े दिखाई पड़ रहे थे। लगातार न जाने कितनी बरसातें उन्होंने सही होंगी, कितने ही बवण्डर उन पर थपेड़े-से मारकर चले गये होंगे, किन्तु इसके बाद भी वह इस प्रकार खड़े थे, जैसे उन्होंने नया जीवन पाया हो।

एक स्थान पर रुक कर मैंने उन तक पहुँचने का सीधा मार्ग ढूँढने के लिये दृष्टि दौड़ाई। सुजाता गर्दन झुकाये धीमे स्वर में बोली "मेरी एक बात मानेंगे आप ? मेरा यहाँ आने का एक ही-उद्देश्य है...... मैं......"

"कह डालिये" उसकी झिझक को दूर करने के लिये मैंने कहा।

"वही कहूँगी" उसने कहा और फिर एक बार पुनः याचनापूर्ण दृष्टि मुझ पर फेंकी, जैसे कुछ कहने के पूर्व वह मुझे बांध लेना चाहती हो। उसने एक बार फिर उसी प्रकार गला साफ किया, पर उसे

एक जोर की खांसी उठ आई। इस बीच खांसते हुए उसकी आँखों में पानी भर आया और चेहरा लाल हो गया। शिष्टाचारवश मैंने इस बीच उसकी पीठ सहलाई। पिछले दिन जितना क्षोभ उसके प्रति मेरे हृदय में था तुरन्त ही न जाने वह कहाँ तिरोहित हो गया। वास्तव में उसके प्रति उत्तर में इतनी सहानुभूति उमड़ आई थी कि मुझे लगा, जैसे कोई बड़े से बड़ा त्याग भी उसके स्वास्थ्य-लाभ के लिये मुझे करना पड़े तो मैं सहर्ष तैयार हूँ।

खांसी का वेग कम हो जाने पर उसने जमीन पर थूका। जिसे देखकर मैं सहम-सा गया। मैंने देखा प्रकृति को उस सुन्दर खिलौने को काल भीतर ही भीतर खोखला कर रहा है। उसके थूक में रक्त और पीब जैसी कोई चीज मिली हुई है। उसके लिये भी यह एक चोट थी और सम्भवत: तब वह इतनी चिन्तित होगई थी कि लगता था उसका शरीर लड़खड़ा कर गिर पड़ेगा।

पास ही खेत के किनारे एक बड़ी-सी शिला पड़ी थी। सहारा देकर में उसे वहां तक ले गया। वहां उसे बिठा दिया और स्वयं भी दूसरी ओर बैठ गया। सुजाता की आंखों में दु:ख की गहरी छाया व्याप्त थी; जैसे प्रकृति की यह समस्त सुन्दरता उसके लिए पतझड़ से अधिक न हो।

वह कुछ कहने के लिए मुंह खोलने ही वाली थी कि मैंने उसे टोक दिया—"आप कुछ देर शान्ति से विश्राम करें।"

"नहीं, अब मैं ठीक हूँ"—दुखित स्वर में उसने कहा और फिर सरके हुए साड़ी के छोर को सिर पर रखते हुए कहना प्रारम्भ किया—"आप तो मेरी हालत देख ही रहे हैं न, फिर ऐसी हालत में यदि कोई भूल मुझसे हो जाय तो आपकी उदारता इसी में होगी कि आप मुझे क्षमा कर दें।"

मैंने उत्तर दिया—"मेरे मन में ऐसी कोई बात नहीं है, आप सच जानें।"

"प्रत्येक का अपना स्वाभिमान होता है" गम्भीरता के स्वर में वह बोली

जिस स्वर में वह यह सब कह रही थी, उसे देख कर लगता जैसे करुणा स्वयं मूर्तिमान हो, क्षमा की भीख मांग रही है। उसने कहा—"कल मैंने आपके साथ जो दुर्व्यवहार किया उसके लिए तब तक मेरी अन्तरआत्मा शान्त न हो सकेगी, जब तक कि आप मुझे क्षमा न कर देंगे।" उसने बच्चों के समान मेरी ओर देखा और जल्दी में वह कह गई—"यह सच है कि इस सदमे को मैं सह न सकूँगी...आप..." आगे वह कुछ कह न सकी, लगता था कि जैसे उसके हृदय में बाढ़ आ गई हो और उसकी नम आखें इसका प्रमाण थीं।

सुजाता की वातों ने मेरे अन्तराल में एक अजीब सी भावना भर दी। जी चाहा कि उसके सिर पर हाथ रख कर उसे सान्त्वना दूँ कि वह अपने समस्त दुखों को भूल जाये किन्तु यह संभव न था, अतः अपनी भावनाओं पर मुझे नियन्त्रण रखना पड़ा। मैंने कहा—"आप मुझ पर विश्वास करें। मैं यह नहीं समझता कि आपने कोई ऐसा अपराध किया है जिसके लिए आपको मुझसे क्षमा मांगनी पड़े। आप अस्वस्थ हैं। इसी लिए आप ऐसा सोच बैठी हैं। आपको अपने मन को दृढ़ रखना चाहिए। यदि इतने पर भी आपको सन्तोष न हो तो मैं स्वयं लज्जा अनुभव करते हुए आपको हृदय से क्षमा करता हूँ।"

"धन्यवाद!" वह होठों में एक पीड़ित मुस्कान लिये बोली और उसकी आँखों में आत्म सन्तोष के भाव उमड़ आए। कुछ क्षण वह चुप रही फिर एकटक सामने वाली चोटी पर दृष्टि गड़ाए हुए बोली "आत्मा की शान्ति कैसे सम्भव है?"

"उसके लिए मैं कुछ नहीं कह सकूंगा।" मैंने अपनी असमर्थता प्रकट की और कहा—"क्योंकि मैं स्वयं ही अशान्त हूँ। मन की शान्ति ढूंढने के लिए ही यहां से वहां भटक रहा हूँ और सोच रहा हूँ कि शायद प्रकृति के स्नेह भरे आंचल की ओट में मैं अपने उद्भ्रान्त मन को शान्ति दे सकूँ।"

वह उसी प्रकार सामने वाले पहाड़ पर दृष्टि गड़ाए रही, मानों उसकी

आँखें पत्थर की हो गई हों । फिर उसने मेरी ओर देखे बिना ही कहा—"इस प्रकार तो आप कभी भी शान्ति नहीं पा सकेंगे ।"

"शायद यही हो"—मैंने सिर हिला दिया। गम्भीरता की मूर्ति बनी वह मेरी ओर देखने लगी, जैसे वह मेरे सारे दुःख और अन्तर व्यथा को आंखों में ही पी जाना चाहती है । वह बोल तो कुछ न सकी किन्तु जब मैंने उसकी ओर देखा तो उसने इस प्रकार गर्दन नीची कर ली मानों वह पहले से ही गर्दन झुकाए थी ।

कुछ देर मैं भी शान्त बैठा रहा । इसके बाद मैंने सुजाता के प्रति अत्यन्त सहानुभूति और आत्मीयता जताते हुए कहा—

"एक बात कहूँ सुजाता जी ।"

"कहिए"—उसने धीमी-सी आवाज़ में कहा ।

"आप रोज थोड़ी बहुत हँसी अपने होठों पर लाया कीजिए । इससे आपको अपने प्रति मोह उत्पन्न होगा"—मैंने कहा ।

एक फीकी-सी हँसी उसके होठों पर झलकी । उसकी वह हँसी टेसू के फूलों में खुशबू के समान थी । उस रूप में मैं उसे देर तक देखता रहा । उसका क्षीणकाय शरीर बाँस द्वारा निर्मित ऐसी कृत्रिम मानवाकृति के तुल्य लग रहा था जैसे किसी ढांचे पर रंगीन कागज का मलट चढ़ा दिया गया हो । उसने उसी हँसी के साथ कहा "अब मैं क्या हँसूंगी, मेरा भाग्य ही सदा मुझ पर हँसता रहा है । फिर मेरे हँसने से क्या लाभ ?" कुछ रुक कर अत्यन्त स्पष्ट स्वर में वह कह गई—"किसके लिए हँसूं मैं ?"

"देखिए"—मैंने कहा "आप बहुत बह जाती हैं । इसका कारण मैं जानता हूँ । किन्तु यदि आप अपने मन का बोझ हटा दें तो डाक्टरों ने जो निराशा आपको दिखाई है. वह मिथ्या सिद्ध होकर रहेगी । देखती हैं"—सामने उंगली से संकेत कर पहाड़ी टीले पर बसा एक छोटा-सा गांव दिखाते हुए मैंने उससे कहा—"इन गावों में डाक्टर का नाम तक लोग नहीं जानते, फिर भी वह जीते हैं—जानती हो क्यों ? क्यों

कि वे सन्तोषी हैं। आप भी अपने आप में हरियाली लाइए। अपने आप से प्यार करना सीखिए।"

मैंने देखा मेरी बातों का उस पर अच्छा प्रभाव पड़ा था और लगता था जैसे क्षण भर पूर्व जड़ हो गई उसकी चेतना लौट आई हो। उसकी आंखों में एक चमक आ गई थी। वह एक ऐसी ही चमक थी जो अन्धकार को चीर कर क्रमशः प्रकट होने वाले दिनकर में होती है। उसका चेहरा खिल उठा था। वह पूर्ववत् सांस ले रही थी। लगता था उसका धैर्य और विश्वास वापस आ रहा हो। कई दिन तक समुद्री यात्रा करने के पश्चात् भूमि का भाग देख कर जैसा भाव यात्री के चेहरे पर छलक आता है, वैसा ही भाव उसके मुख पर प्रकट हो रहा था।

हम दोनों ने पूर्व की ओर देखा। दो ऊँची पर्वत मालाओं के बीच दिनकर हँस रहे थे। एक ओर धूप छिटकी हुई थी। घाटी में चर रही गऊएं, पूंछ हिलाती हुई चरने में लीन थीं। उन्हें जैसे किसी से वास्ता न था। चरते-चरते वे आगे दो चार डग बढ़ा देतीं जो दूर से बहुत अच्छा लगता। किसी वृक्ष तले ग्वालों का झुण्ड दिखाई पड़ता और तमाखू पीने के लिए जल रहे उपलों का धुआं वृक्षों की डालियों में जाकर लोप हो जाता। दूर तक उस धुएं की महक छा गई थी और ग्वालों द्वारा बजाई जाने वाली बांसुरी के स्वर में जैसे वह सजीवता-सी लाता जान पड़ता। मुझे लगा, जैसे मनुष्य अमर है, उसकी आत्मा अविजेय है, क्योंकि उसकी उड़ान की थाह आज तक कोई पा नहीं सका है। जो क्षण भर में अनन्त सृष्टि के गर्भ में विलीन हो उसके रहस्यों को अनायास ही खोज लाने में सफल हो जाती है, वह अविजेय ही तो है।

मैंने घड़ी देखी तो पाया कि पूरा एक घण्टा हम उस शिला पर बिता चुके हैं। मैंने सुजाता से कहा—"यदि आप ठीक समझें तो अब चला जाये।"

"हाँ," वह बोली, "अब हमें चल देना चाहिए।" फिर उठते हुए उसने भावपूर्ण स्वर में कहा—"आपकी प्रेरणादायक बातों के लिए मैं आभार

प्रकट करती हूँ और आशा करती हूँ कि जब कभी मैं कोई भूल कर बैठूं तब आप मुझे अपने से छोटा समझ कर क्षमा कर देंगे और साथ ही मेरा मार्ग प्रदर्शन भी करेंगे।"

"इस बात की कोई आवश्यकता नहीं"—मैंने हँसी के स्वर में कहा। उस ने भी हँसी में साथ दिया। इस सारी यात्रा में यह प्रथम अवसर था जब उसके होठों पर स्वाभाविक मुस्कान की झलक मैंने देखी और देखा उस तृणकाय शरीर में जीवन का संचार।

उसने हँस कर कहा—"आपको शायद पता नहीं होगा, कैलिफोर्निया के एक डाक्टर ने मेरा निरीक्षण करके एक ठंडी सांस छोड़ते हुए कहा था—'ओह ! यह गुड़िया अब अधिक से अधिक आठ मास में नष्ट हो जायगी।' डाक्टर ने, हालांकि यह अपने एक साथी से कहा था—जो परीक्षण रूम से कुछ दूरी पर खड़ा था—किन्तु मैंने सुन ही लिया।"

"उस बात को अब कितना समय बीता है ?—क्या बता सकेंगी ?" —मैंने चलते-चलते पूछा।

"चार महीने तो हो ही गए होंगे।"—एक स्मित हास्य बिखेर कर उसने कहा।

मैं जोर से हँस पड़ा। मैंने उसी तरह हँसते हुए कहा—"तब तो इस हिसाब से चार मास तक आपको कुछ नहीं होगा।"

"हां," उसने सिर हिला दिया "पर चार महीने बाद क्या होगा यही सोचती हूँ।"

"मैं आपसे शर्त बदने को तैयार हूँ।"—मैंने उसकी बात को गम्भीरता में न बदलने दिया। मैं बोला—"यदि चार मास में आप बिल्कुल ठीक हो गईं तब शर्त हारने के बदले में मुझ को क्या देंगी ?"

मेरी बात सुनते ही उसने गर्दन नीचे गिरा ली। उसकी पलकें झुक गई थीं और गालों पर तब एक लाली-सी छा गई थी। लगता था उसके सारे शरीर में रक्त तेजी से चक्कर काट रहा था। वह चलती रही पर नजरें न उठा सकी। शिष्टाचार वश मेरी बात का उत्तर तो उसे देना

ही था, पर बड़ी कठिनाई से वह इतना ही कह पाई—"मेरे पास आपको देने जैसी कोई चीज़ भी तो नहीं, क्या दे सकती हूँ मैं ?"

"एक चीज़"—मैंने साहस के साथ कहा ।

"क्या ?" वह सहम गई थी । उसने एक सन्देह भरी दृष्टि से मेरी ओर देखा, फिर दूसरी ओर मुंह करके चलने लगी । चलते-चलते वह अपनी साड़ी के छोर को अपने दाँतों से चबाने लगी थी ।

उसकी अवस्था मुझसे छिपी न रह सकी । कहीं वह कुछ और भाव मन में न ले आवे, यह सोच मैंने उत्तर देने में बिलम्ब न किया । मैंने कहा— "आप हँसना सीखिए, जीने की प्रेरणा लीजिए ।"

"ओह !"—उसने एक साँस छोड़ी जो सम्भवतः अब तक रोकी हुई थी । धीरे से वह बोली—"यह तो आप मेरे ही लिए मांग रहे हैं, अपने लिए आपने क्या माँगा ?"

"सँसार में सभी कुछ अपना ही होता है"—मैंने कहा—"समझ की बात है, नहीं तो किसी का दुख अपना दुख और किसी का सुख अपना ही सुख है । संसार की सारी खुशियाँ हमारी ही खुशियों का प्रतिरूप हैं और लक्ष-लक्ष वे रोदन हमारे ही रोदन का प्रतिविम्ब हैं । जैसे, पानी चाहे कहीं भी हो, समुद्र में सरिता में, या घर में, है वह पानी ही, उसका स्रोत एक ही है और रूप भी एक ही ।"

मेरी बातों से वह पुनः गम्भीर हो गई । एक क्षण को वह भूल गई कि हम दो नए यात्री हैं । हमारा परिचय अभी परिपक्व नहीं है । भाव विभोर होकर वह बोली "आप मेरे गुरू बन जाइए न !"

उसकी बात पर मुझे हँसी आ गई । मैंने उसी भाव में कहा—"आपको ऐसे आदमी को गुरु बनाने से क्या लाभ जो गुरु परम्परा को ही नहीं मानता ।"

इसके बाद उसने उत्तर नहीं दिया । शायद वह इतनी शीघ्रता से मन की बात प्रकट करने में मन ही मन लज्जा का अनुभव कर रही थी ।

हम दोनों ने आगे चल कर वहाँ के पूर्वातन बद्रीनाथ और मृत्युञ्जय

मन्दिर को देखा । ग्यारहवीं सदी में निर्मित इन दोनों मन्दिरों की स्थापत्य-कला को देख कर हम भावों में डूब-से गये । इन मन्दिरों के बारे में वहाँ एक दन्त-कथा भी हमने सुनी थी कि पाण्डवों के काल में कत्यूरी पर्वतीय अंचल के राजाओं ने यहाँ दूसरी द्वारिका बसाने की योजना बनाई थी । यह बात कहाँ तक ठीक होगी कहा नहीं जा सकता किन्तु इतना तो मानना ही पड़ेगा कि क्षीर नदी के तट पर बसी यह मन्दिरों की नगरी किसी काल में विशाल अस्तित्व लिए होगी । उस छोटी किन्तु पवित्र नदी के किनारे पर आज भी न जाने कितने खण्डहर अपने अतीत की कहानी कह रहे हैं । जहाँ कोई अकेला मन्दिर खड़ा है, उसे देख कर लगता है मानो उसे यह एकान्त ही प्रिय है । मृत्यु-ञ्जय के मन्दिर में सुजाता ने जो देखा उसकी आँखो में उसकी छाप थी । लगता था उसकी आत्मा उस समय उन पुरातन खण्डहरों के इतिहास को उनके पूर्वरूप में देखने का प्रयत्न कर रही है ।

वहाँ से कुछ दूर पर गुर्जरपुर का मन्दिर है और उसके साथ ही शीतला, पुष्करराज और कुलदेवी के मन्दिर हैं; जिनके ऊपर न जाने कितनी बरसातें पड़ी हैं और न जाने कितनी धूप वह पी चुके हैं। अतीत को अपने में छुपाए आज उन मन्दिरों का रंग काला पड़ गया है । कहीं-कहीं से पत्थर निकल चुके हैं । यह मन्दिर कूर्माचल के राजवंश द्वारा निर्मित किए गए हैं ।

यहीं हमने कई बावड़ियाँ भी देखीं । जिनमें अब जल तो नहीं था किन्तु सहस्रों वर्ष पूर्व वह जल से भरी यात्रियों के मन में शीतलता भर देती होंगी ।

उर्द की दाल और गुड़ के गारे से निर्मित ठुलकुड़ा* भी हमने देखा जिसके बारे में कहा जाता है कि चौधरी वंश के राजाओं ने अकाल पीड़ित जनता की जीविका चलाने के उद्देश्य से उसे बनवाया था ।

ठुलकुड़ा के पास सुजाता थककर बैठ गई । उसने मुझ से भी

अनुरोध भरे स्वर में कहा "कुछ देर आप भी बैठ जाइए न ?"

हामी भरते हुए मैं भी बैठ गया। मेरी दृष्टि तब उस पुरातन खण्डहर पर टिकी हुई थी। मैं यह समझ रहा था कि इंसान और खण्डहर में क्या अन्तर है ? यही न कि खण्डहर युगों तक अपना अतीत अपने साथ रखता है और इंसान का अतीत उसके साथ ही समाप्त हो जाता है, यदि वह असाधारण व्यक्ति न हो तो।

सुजाता ने मुझे गम्भीर देखकर कहा "क्या सोचने लगे हैं आप ?"

"मैं अपने बारे में ही कुछ सोच रहा था।"

"क्या ?" उसने पूछा

"यही कि" मैं नीलाकाश की अनन्त गहराई में अपनी दृष्टि स्थिर रखते हुए बोला "क्या मैं उड़ नहीं सकता ?"

वह हँस पड़ी। उसकी धीमी हँसी का स्वर मेरे कानों में पड़ा तो विचार श्रृंखला भंग हो गई। चौंक कर उसकी ओर देखा तो अब भी चपला तुल्य उसकी दन्तमाल चमक रही थी। उस के गालों पर हल्के अनार का-सा रंग फैल रहा था और उसकी दो बड़ी-बड़ी आँखें ऐसी लग रही थीं जैसे उनमें कोई गहरी रसानुभूति भरी हो।

"आप हँस क्यों पड़ीं ?"—मैंने पूछा।

उसी प्रकार हँसते हुए उसने उत्तर दिया—"आपकी बातों को सुन कर।"

"ऐसा क्या कह गया मैं ?"—मैंने पूछा।

"कोई अच्छा भला बुजुर्ग जब बच्चा बन जाता है" वह बोली "तब हँसी आना स्वाभाविक ही है।" वह फिर हँस दी। इच्छा न होने पर भी अबकी बार मैंने भी उसकी हँसी में साथ दिया।

वह जब चलने को उद्यत हुई तो उस बड़ी-सी शिला पर खड़ी होकर उसने अपना एक हाथ मेरी ओर को बढ़ा दिया। शायद उतरने के लिए उसे मेरी सहायता की जरूरत थी। मैंने बिना किसी हिचक के अपने हाथों पर उसका सम्पूर्ण भार ले उसे नीचे उतार दिया। इस

बीच नारी की रहस्यपूर्ण गहराइयों के बारे में अनायास ही एक विचार मेरे मन में आ गया। मन ही मन मैंने कहा—वास्तव में नारी एक ऐसी बाढ़ है जो ढलान को छोड़ ऊंचाई पर बढ़ जाती है। क्योंकि वह जान बूझ कर दुर्गमता को चुनती है। जो आसान है उसे नहीं, कठिन और बीहड़ ही उसके मार्ग हैं।

इसी बीच वह एक ऐसी बात कह गई जिसे सुन कर मैं मन ही मन विचलित हो गया। उसे जब अपने बाहुओं का सहारा दे नीचे उतारा तो उसने कहा था "आज तो आपने सहारा दे कर उतार लिया किन्तु अब सोचती हूँ कि भविष्य में यदि इसकी आवश्यकता पड़ी तो उसकी पूर्ति कौन करेगा ?"

मैंने तुरन्त उत्तर दिया "उसकी पूर्ति समय करेगा क्योंकि समय प्रत्येक की आवश्यकता को साथ लिए चलता है।"

मेरी बात सुनकर उसने एक बार मेरी ओर देखा और फिर वह सामने के एक बड़े से पेड़ की ओर देखने लगी जो चारो ओर से खोखला होने पर भी सिरे पर हरियाली लिए हुआ था। मैंने देखा सुजाता ने उस पेड़ को वैसे ही देखा जैसे वह अपना प्रतिरूप देख रही है।

दोपहर की धूप चारो ओर फैल गई थी और खेतों पर काम करती औरतें घास के गट्ठर लिए घरों को लौट रही थीं। वे क्रमशः एक समूह के साथ द्रुत-गति से चल रही थीं। चलते समय उनके पैरों के आभूषण जिनमें झाँवर या पायजेब होते, झनझना उठते। दूर के गांव से छोटे बच्चों की पतली आवाजें सुनाई दे जातीं। जिनका अर्थ होता·········ऐ भाभी जी·········भात खाने को शीघ्र आओ या······ऐ माता जी··· भात खाने को आ जाओ······

यह वहाँ का एक रिवाज था। स्त्रियाँ प्रातः ही खेतों पर काम करने जातीं और जो भी घर में होता वही खाना तैयार करता। फिर बच्चे आवाज लगाकर अपने घर की औरतों को खाना खाने के लिए बुलाते।

———

पाँच

उस दिन डेरे पर पहुँच कर मैंने विश्राम किया। कुमार साहब ने ढेर-सारे पत्र अपने मित्रों और परिजनों को लिखे थे। अपनी बहन को उन्होंने एक पत्र में लिखा था,—जो अपने पति के साथ मलाया में रहती थी...'हमारी यात्रा चल रही है...इसका अन्त कब होगा कह नहीं सकता...कितने ही वसन्त अस्त हुए देख चुका हूं। यह आखिरी वसन्त है। क्या पता यह अस्त होगा या सम्भव है यह जीवन की वीरानी में हरियाली लेकर आए...... ।'

शाम को सुजाता, मैं और कुमार साहब तीनों पुनः भ्रमण करने निकले और कई मील चलकर जब हम लोग घर लौटे तो अंधेरा हो रहा था। हम बेहद थक गए थे, अतः भोजन करके शीघ्र ही हम सो गए। अगले दिन द्रोणगिरि तक जाने का कार्यक्रम रात ही में हमने तैयार कर लिया था इसलिए लछुआ तीन घोड़ों की व्यवस्था संध्या समय ही कर आया था।

सोने के पूर्व कुमार साहब ने उसे प्रातः ही जगा देने के लिए कह दिया था। प्रातः पांच बजे घोड़े वाले तीनों घोड़े लेकर वहाँ आने वाले थे अतः हम शीघ्र ही इस कारण भी सो गए थे कि पूरे दिन विश्राम का अवसर न मिलेगा।

अगले दिन चार बजे ही मेरी आँख खुल गई। मैंने खिड़की से बाहर झांका तो आकाश स्वच्छ था और चारों ओर तारे छिटक रहे थे। सर्वत्र व्याप्त अन्धकार के साथ-साथ शान्ति छाई हुई थी। द्वार खोलकर मैं बरामदे में गया तो उस अंधेरे में भी मुझे जलता हुआ एक पतंगा दिखाई दे गया। पास जाकर देखा तो लछुआ को बीड़ी पीते पाया। वह उठ बैठा था और अपने काले कम्बल से लिपटा बीड़ी का धुआ उड़ा

रहा था। उसे देखते ही मैंने कहा—"क्यों रे, क्या पाँच बजे ही घोड़े आ जायेंगे ?"

"हां हजूर"—उसने कहा और शायद उसे मेरे सामने बैठे रहना शिष्टाचार के विरुद्ध लगा, वह उठकर खड़ा हो गया। उसकी बात को तोड़ने के लिए मैंने उसकी पीठ पर हाथ रखते हुए स्नेह से कहा—"अरे बैठ भी, खड़ा क्यों हो गया रे ?"

स्वामिभक्त घोड़े के समान उसका हिनहिनाना मुझे अच्छा न लगा। मनुष्य मनुष्य के सामने अपने आप को हेय समझे, यह बात मेरे लिए असह्य थी। उससे और कुछ कहे बिना मैं पुनः कमरे में चला आया। कुमार साहब और सुजाता गहरी निद्रा में लीन थे। घोड़ों के आने से पूर्व ही चलने की तैयारी पूर्ण कर लेने की दृष्टि से मैंने कुमार साहब को उठा देना ही उचित समझा। जरा-सा स्पर्श करने से ही वह जाग गए। अपने पास ही सो रही सुजाता से भी उन्होंने जागने के लिए कहा। वह आंख मलती हुई उठ बैठी। अभी वह कच्ची नींद में जागी थी अतः उसने एक जम्हाई ली और फिर आंखों को मलते हुए वह तैयार होने के लिए चारपाई से उठ गई।

सुजाता ने उस दिन एक सादी-सी साड़ी के साथ वही बाघम्बरी कोट पहना। घुटनों तक के बारीक मोजे चढ़ा उसने मद्रासी ढंग का जूड़ा बांधः और कुछ ही देर में वह चलने को तैयार हो गई। कुमार साहब घुड़सवारी के कपड़े पहने अपनी सफेद दाढ़ी को कंघी से सँवार रहे थे। उनके निकट ही चाँदी की मूठ वाली छड़ी रक्खी हुई थी और उसके सामने की आलमारी में एक तुर्रेदार मलमल का साफा रक्खा हुआ था।

अभी हम लोग पूरी तरह से तैयार भी न हो पाए थे कि होटल के बाहर घोड़े आ गए। लछुआ ने भीतर आकर उनके आने की सूचना दी। मैंने कुमार साहब को लक्ष्य कर कहा—

"भोर के झुटपुटे में ही हम लोग चल दें तो अच्छा रहेगा। धूप

निकलने पर आरोहण का आधा आनन्द भी नहीं मिल सकेगा।"

उन्होंने साफा सिर पर रक्खा, छड़ी उठाई और फिर सुजाता को आवाज़ दी, जो बरामदे में खड़ी बाहर देख रही थी।

......और कुछ ही देर में हमारा काफिला चल रहा था। इस छोटे से काफिले में केवल छः आदमी थे। तीन घोड़े वाले, मैं, सुजाता और कुमार साहब। यदि घोड़ों की उपेक्षा न की जाय तो कुल मिला कर हम नौ यात्री थे। लछुआ ने स्वयं ही इन्कार कर दिया था अतः वह वहीं रह गया।

जब द्वाराहाट की बस्ती से हम बाहर निकले तब तक सर्वत्र सन्नाटा छाया हुआ था। खेतों के बीच से हमारी छोटी सी बाट पास की एक ऊँची बस्ती बैर्ती की ओर चली गई थी, जो अभी तक अन्धकार की चादर में लिपटा हुआ था। वहाँ नीरवता छाई हुई थी, हाँ कभी कभी किसी गाय या भैंस के रम्भाने या किसी गीदड़ के रोने की कर्कश आवाज सुनाई पड़ जाती। कभी रास्ते के एक छोर से दूसरे छोर को जाता हुआ कोई खरगोश दिखाई दे जाता। उसके भागने से ज्वार के ऊँचे ऊँचे पौधों के बीच एक सरसराहट-सी होकर रह जाती। बैर्ती ग्राम क्रमशः निकट आता जा रहा था, जहाँ से हमारी इस यात्रा की वास्तविक चढ़ाई होने वाली थी। अभी तक, लगता था जैसे गाँव के सभी आदमी सोए पड़े हों।

सब से आगे के घोड़े पर कुमार साहब बैठे हुए थे। उनके आगे घोड़े का मलिक घोड़े की लगाम पकड़े चल रहा था। बीच वाले घोड़े पर सुजाता सवार थी। केवल मैं ही स्वयं अपने घोड़े का संचालन कर रहा था और घोड़े वाला मेरे पीछे-पीछे नारियल के हुक्के पर चिलम गुड़-गुड़ाता चला आ रहा था।

बैर्ती के पास से हम दाहनी ओर को मुड़ गए। वहाँ से चीड़ का घना जंगल आरम्भ हो गया था। आकाश की ऊँचाई से बातें कर रहे उन चीड़-वृक्षों के बीच में चीरा लगा कर उनमें मिट्टी के छोटे छोटे गमले लगा

दिए गए थे, जिनमें चीड़ के पेड़ का अर्क 'लीसा' टपकता दिखाई दे रहा था।

मेरे पूछने पर घोड़े वाले ने बताया कि इससे तारपीन का तेल बनाया जाता है, कई स्थानों पर चीड़ के तेल से भरे कनस्तरों के ढेर भी पड़े थे। उनकी रखवाली के लिए आस-पास कोई भी आदमी दिखाई न दिया। आगे एक टीले पर बने एक बंगले के पास ही एक छोटा सा झरना देख मैं प्रातः की उस स्वर्णिम बेला में उसके सौन्दर्य में विभोर हो गया। एक ऊँची चट्टान से टकरा कर जब वह जल धारा लगभग सौ फीट नीचे पत्थरों पर पड़ती तो उससे पैदा होने वाली ध्वनि कुछ देर के लिए कानों को सन्न कर देती और उसे देर तक देखने को जी कर आता। यद्यपि अभी निशा की कालिमा पूर्णतः दूर न हो पाई थी, फिर भी दूर से वह प्रपात चमक उठता और उसे देखने से लगता जैसे पिघलाकर चाँदी उड़ेली जा रही हो।

हमारा मार्ग द्रोणगिरि के चारों ओर चक्कर लेता हुआ चल रहा था। उस छोटी सी उबड़-खाबड़ बाट से जब हम नीचे को झाँकते तब भय से शरीर काँप-सा जाता और गिर पड़ने की कल्पना से ही रोंगटे खड़े हो जाते।

आगे बन और बीहड़ हो गया था, चीड़ के वृक्षों के साथ-साथ बाँज और काँफल के वृक्षों की कतारें भी दिखाई पड़ रही थीं। कभी-कभी कोई बुरुंसी का पेड़ भी दिखाई दे जाता, जिस पर लाल रंग के बुरुंसी के फूल इस प्रकार झूल रहे होते कि उनकी लालिमा में पेड़ के पत्तों की हरियाली भी छिपी-सी लगती। पक्षियों का कलरव चारों ओर घाटियों में अपना संगीत बिखेर रहा था। स्वच्छन्दता से वह एक डाली से दूसरी डाली को उड़ जाते और अपनी मधुर आवाज़ फैला देते।

भोर हो गया था और दूर पहाड़ी डाडों में दिनकर अपनी हल्की गुलाबी किरणों की छटा बिखेर रहे थे। ऊँचे गगनचुम्बी वृक्षों की चोटी पर वह किरणें कितनी सुहावनी लगतीं। हरियाली में किरणों के

सम्मिलन से एक विचित्र-सी चमक पैदा हो गई थी। उसे देख जी में आता--काश! मैं पंछी होता और तब सवेरे की इन पहली किरणों में स्नान कर सर्व प्रथम इस प्रकाश को जूठा कर देता।

हमारे घोड़े अब मन्थर गति से चल रहे थे, क्योंकि अब चढ़ाई आती जा रही थी। कुछ दूर आगे चल कर हमें ग्राम्य बालाओं के सुमधुर कण्ठ से निकली स्वर लहरियाँ सुनाई पड़ने लगीं। प्रात: के उस शीतल समीर के साथ बहकर आने वाले वह स्वर मानो अपने साथ एक मोहकता बहा कर ला रहे थे।

स्वरों को समझने की चेष्टा करते हुए सुजाता ने मेरी ओर देख कर पूछा—"क्या आप बता सकते हैं कि यह आवाज कहाँ से आ रही है ?"

"यह स्वर सम्भवत: यहाँ की बालाओं द्वारा छोड़ा हुआ कोई प्रभात-गीत है।"—मैंने उत्तर दिया।

हमारी बात सुनकर घोड़े वाले ने कहा—"ये सब काँफल तोड़ने आई हैं हजूर।"

"काँफल ?"—मैंने पूछा—"काँफल क्या भाई ?"

"काँफल नहीं जानते साहब ?"—वह बोला और फिर उसने अपने नारियल में एक अन्तिम कश लगा कर उसकी अधजली खार नीचे उलट दी। गले को खंखार कर उसने काँफल के बारे में पूरा इतिहास ही सुना डाला। उसने कहना शुरू किया—'जब भगवान रामचन्दर जी वनवास भोग रहे थे"—मुझे दूसरी ओर मुँह किए देख उसने पूछा—"सुन रहे हैं हजूर ?"

"हां हां—" मैंने कहा। "मेरा ध्यान तुम्हारी ओर है।"

"हां तो..." —उसने कहना शुरू किया—"एक जगह उन्हें भूख लग आई। चारों तरफ देखा तो पेड़ों के सिवा कुछ नहीं...इतनी घनी हरियाली और कहीं कोई फल नहीं। तो उन्होंने लक्षमन से पूछा—'कहाँ फल ?' और लक्षमन जी ने उधर देखा तो लाल-लाल दाने से लगे हुए थे...सुन रहे हैं हजूर ?"

"हां हां, —कहते चलो"

"उनके बोझ से पेड़ झुक गया था हुज़ूर और रामचन्दर जी ने उन्हें खाया था...बस हुज़ूर जभी से यहां काँफल ही काँफल हो गए हैं।"

सुजाता इस बात के अन्त में कुछ इस भाव से हँस पड़ी, मानो वह इस घटना का मजाक उड़ा रही हो।

मुझे सुजाता की वह बात खटक गई। किसी के विश्वास और भावना की हँसी उड़ाना अच्छी बात नहीं। मैंने साँकेतिक भाषा में उसका प्रतिवाद करते हुए कहा—"आपका ईश्वर में विश्वास है ?"

मेरी बात पर वह हँस दी। कुमार साहब का घोड़ा काफ़ी आगे बढ़ गया था। उसके उचक-उचक कर चलने के कारण कुमार साहब भी हलके-हलके उचक रहे थे।

अपनी बात का उत्तर न पाकर मैंने पुनः प्रश्न किया—"आप तो चुप ही हो गईं ?"

"हां, मैं भूल पर ही थी। यही सोचकर चुप्पी साध गई हूँ" वह एक बार पुनः मुस्कराई।

आगे का दृश्य इतना मनोहर था कि हम दोनों घोड़ों से उतर कर पैदल चलने लगे। दूर तक काँफल के वृक्षों के झुरमुट खड़े थे और दर्जनों बालाएँ वृक्षों पर चढ़ी काँफल तोड़ती हुई कोई मीठी लय वाला गीत गा रहीं थीं। गीत का अर्थ था:—

...अरे ओ कपुआ पक्षी ! तू इतना मीठा गीत गा कर हमारे कुवाँरे हृदय को क्यों बींध रहा है ?

...क्या तेरे पास हृदय नहीं है रे ? या तू अपनी प्रेमिका द्वारा अपमानित किया गया है, जो आज हम सबसे बदला लेने पर तुला हुआ है ?

...अरे निर्मोही। अब बस भी कर, देखता नहीं हम जवानी के भार से इस प्रकार लदी हुई हैं जैसे काँफलों के भार से यह पेड़ झुक गए हैं। हमारे माँ बाप को अभी तक हमारा ध्यान नहीं है। अगर तुम्हें गाना ही है —तो तुम हमारे घर वालों को हमारी व्यथा सुनाओ ताकि वे

हमारी जलन दूर करने की राह ढूंढ़े।

घोड़ों के टापों की आवाज़ सुन एक साथ ही उन सब का स्वर शान्त हो गया और जब हम उनके पास पहुँचे तब वे सभी पेड़ पर से उतर कर उस छोटी-सी पगडण्डी के किनारे खड़ी हो गई। उन्होंने बड़े बड़े लहंगे पहने हुए थे। और उनके ऊपर मोटे कपड़े के पूरी बाहों के कुरते पहने वे सिर पर ओढ़निया ओढ़े थीं जो घर में ही रंगी गई लगती थी और उन पर गोटे से कंगूरे भी बनाए गए थे। सभी नंगे पैर थीं। हाँ चाँदी या गिलट की झांवर आदि अवश्य दो चार के पैरों में देखने को मिली, कुछ की नाक में नथ भी झूल रही थी। अपने केशों को और भी अधिक लम्बा दिखाने के आशय से वे लम्बी लम्बी चोटियाँ गूंदे थीं। मुझे और सुजाता को देखकर वह सभी एक दूसरे के कान में कुछ कानाफूसी-सी करने लगीं। उनके चेहरों पर प्रकट भावों से लगता था जैसे हम दोनों के जोड़े को देख वे रसानुभूति के भार को संवरण न कर पाई हों। उनके अनार जैसे गालों पर तब रक्तिमा स्पष्ट झलक आई थी।

उनमें से दो ने सुजाता की ओर देख हाथ जोड़ पहाड़ी भाषा में अभिवादन किया। एक ने कहा पै लागूं। दूसरी और अन्य सभी ने उसका अनुसरण किया।

सुजाता उसका अर्थ समझ न सकी। उसने प्रश्नवाचक दृष्टि से मेरी ओर घूम कर देखा। मैंने उसे समझाया यह आपको अभिवादन कर रही हैं।

"ओह, अभिवादन"—वह धीरे से बोली और उत्तर में अपने हाथ जोड़ दिए। सुजाता के ऐसा करने से उन सभी के मुख पर एक लज्जा-जनक मुस्कान खेल गई जिसमें एक ऐसा भाव भरा था मानों उनके अभिवादन का उत्तर दे सुजाता ने कोई एहसान किया हो।

एक जो उनमें सबसे सुन्दर थी और जिसकी आँखों में जामुन जैसा रंग भरा था, कुछ आगे बढ़ी और सुजाता को लक्ष्य कर उसने अपनी

भाषा में कुछ कहा। मैं स्वयं भी उसका कुछ अर्थ न समझ सका। उसकी बात सुन घोड़े वाले के चेहरे पर एक भेद भरी मुस्कान खेल गई। मैंने जब उससे उस औरत के वाक्य का अर्थ पूछा तो मेरे निकट आकर धीरे से उसने कहा, "वह कहती है दुल्हा-दुल्हिन की जोड़ी बनी रहे। चार पैसे माँगती है हजूर।"

यद्यपि उसने इतने धीमे स्वर में यह बात कही थी कि सुजाता उसे सुन न सके, किन्तु उसके मुंह पर लज्जा मानो मूर्त रूप में बस गई थी। वह आंखें जमीन पर गड़ाए चल रही थी और गर्दन उठा पाना उसके लिए असह्य-सा लग रहा था। घोड़े वाले की बात सुन मैं अपनी हँसी न रोक सका। उन औरतों को बाँटने के लिए कुछ रेज़गारी घोड़े वाले को दे, मैं सुजाता के निकट आकर हँसी के स्वर में बोला—"सुना आपने ? वे सब क्या कहती हैं !"

"नहीं तो !"—चौक कर वह बोली—"यह कांफल खायेंगे ?"—एक दम बच्चों की-सी मुद्रा में उसने मेरी ओर देखा, जैसे उसे किसी बात का ज्ञान न हो। कुछ उसी स्वर में उसने तुरन्त बात दूसरी ओर पलट दी—"यह कांफल खायेंगे ?"

"हाँ—हाँ—" मैंने कहा।

उसने एक पेड़ के नीचे गिरे कुछ काँफल उठा कर मेरे हाथ पर रख दिये और कहा—"लीजिए !"

मैं चुपचाप उन्हें चबा गया। हम फिर आगे बढ़ गए। एक लम्बे घुमावदार रास्ते से मुड़ कर हम एक ऐसे स्थान पर पहुँचे, जहाँ एक छोटा-सा मन्दिर बना था। वहां कोई पुजारी आदि न था। दो चट्टानों के बीच खड़ा यह मन्दिर न जाने किसने बनवा दिया— कहा नहीं जा सकता। किन्तु देवी की मूर्ति के चारों ओर बिखरे फूल न जाने कितने समय से सूख कर छोटे हो गए थे। बाहर एक छोटा सा मैदान था, जिसमें एक-दो अधजले वृक्ष पड़े थे। उनके एक सिरे का भाग कोयला हो गया था और दूसरे सिरे का भाग सम्पूर्ण था। लगता था कभी उस

स्थान पर धूनी रमाई गई होगी।

द्रोणगिरि को नित्य ही यात्री जाते रहते हैं और चूँकि इस स्थान से चढ़ाई का अन्तिम दौर आरम्भ होता है अतः यात्री लोग विश्राम करने के लिए कुछ देर यहाँ बैठ ही जाते हैं। पगडण्डी के किनारे ही निकटवर्ती गाँव के किसी व्यक्ति ने एक छोटी-सी कुटी यहां खड़ी कर दी थी। एक छोटी भट्टी के पास पुराने से कनस्तर में पीतल के दो-तीन गिलास पड़े थे और टिन की एक केतली में पानी खौल रहा था। देखते ही मुझे यह समझते देर न लगी कि पहाड़ों पर इस प्रकार की चाय की दुकानें एक-एक, दो-दो मील के अन्तर पर पाना कोई बड़ी बात नहीं है।

सुजाता से मैंने पूछा—"चाय पियेंगी ?"

"चाय मुझे रास आयेगी ?"—प्रसन्न-सी मुद्रा में मेरी ओर देख कर उसने कहा।

"यहां की हवा हीं इतनी पवित्र है कि यहां सभी चीजें रास आ जाती हैं—" उसकी बात का उत्तर दे मैंने चाय वाले की ओर मुड़ कर उसे दो चाय बनाने का आदेश दिया।

घोड़ेवाला, जो घोड़े की लगाम पकड़े खड़ा था, आगे बढ़ गया। कुमार साहब बहुत आगे निकल गए थे। सम्भवतः वे अब दूसरी चट्टी पर विश्राम कर रहे होंगे।

जहाँ हम चाय पी रहे थे उसके पास ही एक छोटे से सोते के किनारे और भी चार-पांच यात्री बठे थे, जो सम्भवतः पर्वतीय प्रदेश के ही मालूम होते थे और शायद किसी बड़ी मनौती के आशय से द्रोणगिरि जा रहे थे। पैदल चढ़ाई तय करने से थकावट के भाव उनके मुंह पर छाये हुए थे, उनके पैरों पर धूल जम गई थी और उनके चूड़ीदार पाजामे धूल जम जाने के कारण घुटनों तक पीले-से हो गये थे। पास ही गेरुए वस्त्र धारण किए हुए एक महिला एक भक्ति भरा एवं वेदनापूर्ण गीत गा रही थी। जहां हम बैठे थे, वहां से उसका मुख देखा नहीं जा सकता था, क्योंकि वह हमारी ओर पीठ किए बैठी थी, किन्तु उसके गीत में इतनी

स्थान पर धूनी रमाई गई होगी।

द्रोणगिरि को नित्य ही यात्री जाते रहते हैं और चूँकि इस स्थान से चढ़ाई का अन्तिम दौर आरम्भ होता है अतः यात्री लोग विश्राम करने के लिए कुछ देर यहाँ बैठ ही जाते हैं। पगडण्डी के किनारे ही निकटवर्ती गाँव के किसी व्यक्ति ने एक छोटी-सी कुटी यहां खड़ी कर दी थी। एक छोटी भट्टी के पास पुराने से कनस्तर में पीतल के दो-तीन गिलास पड़े थे और टिन की एक केतली में पानी खौल रहा था। देखते ही मुझे यह समझते देर न लगी कि पहाड़ों पर इस प्रकार की चाय की दुकानें एक-एक, दो-दो मील के अन्तर पर पाना कोई बड़ी बात नहीं है।

सुजाता से मैंने पूछा—"चाय पियेंगी ?"

"चाय मुझे रास आयेगी ?"—प्रसन्न-सी मुद्रा में मेरी ओर देख कर उसने कहा।

"यहां की हवा ही इतनी पवित्र है कि यहां सभी चीजें रास आ जाती हैं—" उसकी बात का उत्तर दे मैंने चाय वाले की ओर मुड़ कर उसे दो चाय बनाने का आदेश दिया।

घोड़ेवाला, जो घोड़े की लगाम पकड़े खड़ा था, आगे बढ़ गया। कुमार साहब बहुत आगे निकल गए थे। सम्भवतः वे अब दूसरी चट्टी पर विश्राम कर रहे होंगे।

जहाँ हम चाय पी रहे थे उसके पास ही एक छोटे से सोते के किनारे और भी चार-पांच यात्री बठे थे, जो सम्भवतः पर्वतीय प्रदेश के ही मालूम होते थे और शायद किसी बड़ी मनौती के आशय से द्रोणगिरि जा रहे थे। पैदल चढ़ाई तय करने से थकावट के भाव उनके मुंह पर छाये हुए थे, उनके पैरों पर धूल जम गई थी और उनके चूड़ीदार पाजामे धूल जम जाने के कारण घुटनों तक पीले-से हो गये थे। पास ही गेरुए वस्त्र धारण किए हुए एक महिला एक भक्ति भरा एवं वेदनापूर्ण गीत गा रही थी। जहां हम बैठे थे, वहां से उसका मुख देखा नहीं जा सकता था, क्योंकि वह हमारी ओर पीठ किए बैठी थी, किन्तु उसके गीत में इतनी

लोच और मिठास थी कि अनायास ही मन कल्पना करने लगता कि वह अवश्य ही सुन्दरी होगी। कमर तक उसके काले-काले बाल लहरा रहे थे जो चारों ओर को छिटक-से गए थे। वह धीरे-धीरे तंबूरे पर हाथ चला रही थी और उस शान्त पर्वत शिखर पर उसके कोकिल कण्ठ से निकलने वाला स्वर विरक्ति की एक वेदनामय धारा बहा रहा था, जिसमें विरक्ति के होते हुए भी अनुरक्ति के भाव अधिक गहरे होते जा रहे थे।

हम चाय समाप्त कर चुके थे, किन्तु कोई चीज बरबस हमारे पांवों को अपनी ओर खींच रही थी और वह थी उस महिला की स्वर-लहरी, जिसमें जीवन की उथल-पुथल से दूर, एक ऐसी शान्ति छिपी थी जो मन की चंचल लहरों को क्षण भर के लिए बांध-सा देती थी। वहां बैठे वे यात्री, भक्ति रस में लीन, पलकें झुकाए धीरे-धीरे सिर हिला रहे थे। चाय वाला भी उस प्रभाव से अछूता न था—क्योंकि तब किसी अज्ञात सम्मोहन से प्रभावित उसके पैर हिल रहे थे।

सुजाता भाव-विभोर-सी उसकी ओर नजर टिकाए बैठी थी। उसकी पुतलियां अपने स्थान पर स्थिर भाव से साध्वी गायिका की ओर टिकी थीं, मानो वे निर्जीव-सी हों और उनमें कोई हरकत न हो। चाय का खाली गिलास उसने हाथ में पकड़ रखा था, उसे नीचे रखना वह भूल गई थी।

साध्वी ने गीत समाप्त किया। ऐसा लगा मानो शीतल बयार का स्थान लू के गर्म झोंकों ने ले लिया हो। सर्वत्र एक अपूर्णता-सी अनुभव हो रही थी। वहां बैठे सभी लोगों ने यथाशक्ति उसे कुछ दिया, उसके पश्चात् वह हमारी ओर मुड़ी। उसे देख मैं स्तब्ध-सा रह गया। गेहुआ-सा रंग लिए उसका चेहरा और अनगिनत यातनाएं छुपाए उसकी आँखें ऐसी ही लग रही थीं मानों दुःख की चरम सीमा को पार कर अब वे विश्राम ले रही हों। विश्राम भी ऐसा, जिसमें विवशताएं भरी हों। जैसे लड़ते-लड़ते कोई साहसी रण-क्षेत्र में घायल होकर आखिरी साँस ले रहा हो और युद्ध की भीषणता पर मन ही मन ग्लानि प्रकट

कर रहा हो। अपने माथे पर उसने चन्दन पोता हुआ था। जिससे तकदीर की लिखावट मिट-सी गई थी। आयु में वह सत्ताइस और तीस के बीच रही होगी किन्तु लगता था जैसे उसने जीवन के वसंन्त में अभी पैर रक्खा ही हो और साथ ही साथ यह भी अनुभव होता मानो निर्धारित समय से वहुत पूर्व ही वह वसन्त पतझर में परिवर्तित हो गया हो।

वह हाथ में तंबूरा लिए याचक बनी जब हमारे पास आई तो उसमें एक विवशता का भाव था। कुछ न कहते हुए उसने केवल हम दोनों की ओर हाथ पसार दिया। मैं उसे क्या दे सकता था? धन देकर तो उसकी विवशता का बदला चुकाया जा सकता था किन्तु दुःख बांटने से बड़ी चीज मेरी राय में न्यायसंगत न थी। फिर भी मैंने कुर्ते की जेब में हाथ डाला और जितने भी टूटे रुपये और रेजगारी मेरे पास थी सब उसके हाथ पर रख दिए। सभी के विस्फारित नेत्र मेरी ओर को घूम गए। सुजाता ने इस प्रकार मेरी ओर देखा जैसे मैं होश में नहीं हूँ। वह आश्चर्य-चकित हो गई थी।

अपने मन की किसी बात को दबा पाने में मैं असमर्थ रहा हूँ। कभी-कभी इस आदत के कारण मुझे अपमान के कड़वे घूंट भी पी जाने पड़े हैं। महिला के प्रति मैं किन शब्दों में आभार प्रगट करूं, बहुत सोचने पर भी इसका कोई हल मेरी समझ में नहीं आ रहा था। फिर भी अत्यन्त ही संयत भाव से मैंने उससे कहा, "जितनी मधुर रस-धार आपने बहाई उसके ऐवज में आपको धन के रूप में जो भी दिया जाय वह तुच्छ है।"

"आपकी परख के लिए धन्यवाद।" उसने एक मृदु मुस्कान के साथ कहा, किन्तु शीघ्र ही उसकी वाणी गम्भीर हो गई। जैसे शब्दों का सहारा लेकर विवशता बाहर आने के लिए विवश हो गई हो। वह बोली "धन से इस संसार में रहते कोई भी मनुष्य क्या अलग रह सकता है? सभी को किसी न किसी रूप में उसका आश्रित होना ही पड़ता है।"

मैंने उसकी बात के समर्थन में सहमति सूचक सिर हिलाया फिर उसकी यात्रा के बारे में पूछा "आप कहाँ से आ रही हैं और आगे कहाँ तक जाने का विचार है ?"

एक फीकी सी हँसी दीख पड़ी। उसके सूखे होठों में एक पपड़ी-सी जम गई थी "इस वेश को धारण करने के बाद कहीं आने और जाने का क्या प्रश्न रह जाता है? जहाँ जी चाहा उधर ही पैर मुड़ गए, जहाँ कौर मिला खा लिया और जहाँ रात हो गई वहीं यात्रा को रोक दिया।"

सुजाता जो अब तक चुपचाप हमारी बातें सुन रही थी, पूछ बैठी "फिर भी बहन अब यहीं विश्राम करोगी या कहीं जा रही हो ?"

"हाँ"—उसने कहा—"अभी मैं द्रोणगिरि तक जाऊंगी।"

मन ही मन मैंने सोचा अच्छा है, रास्ता बोलते-चालते कट जायगा। उठते हुए मैंने उससे कहा—"अगर आप चाहें तो हम लोगों के साथ द्रोणगिरि तक चल सकती हैं। सम्भव है इस थोड़ी-सी देर के साथ से मार्ग की यात्रा कुछ और आसानी से कट जाये।"

पैसों को अपनी भगवा धोती के छोर में बाँधती हुई वह बोली—"मुझे इसमें भला क्या आपत्ति हो सकती है ? चलिए—" और वह चलने को तैयार हो गई। मैंने सुजाता को सहारा देकर उठाया और फिर उस उबड़-खाबड़, नीचे-ऊंचे पथरीले मार्ग से होते हुए हम चढ़ाई चढ़ने लगे। वहाँ बैठे लोगों ने हमें उच्च विचारों वाला एवं उदारमना देखकर अभिवादन किया। मैंने एवं सुजाता ने मुड़कर उन्हें नमस्कार किया। मैंने देखा झोंपड़ी में बैठे लोगों की आँखें हमारी ओर जमी हुई थीं। उनमें श्रद्धा और विश्वास के भाव थे और लगता था जैसे कुछ ही क्षणों का हमारा वह सम्मिलन उन्हें विछोह का दुःख दे रहा हो।

दूर कहीं कोई बांसुरी बजा रहा था। देवदार के वृक्ष पर बैठी कोई चिड़िया बिना किसी प्रकार का एकाकीपन अनुभव किए बांसुरी की लय में अपना स्वर मिला रही थी और चोटी अन्तिम के सिरे पर बंधी

वैष्णवी के मन्दिर में बजने वाली घंटियों की तीक्ष्ण ध्वनि यहाँ आते-आते इतनी महीन लगने लगी थी मानो पायलें बज रही हों। हम चले जा रहे थे। हमारी दाहिनी ओर कल-कल करती क्षीर नदी बह रही थी और हृदय में उठने वाली महत्वकांक्षाएं हमें बढ़ाए लिए जा रही थीं।

रास्ते में मैंने उससे पूछा—"बहन! इतनी अल्पायु में ही यह बाना तुमने क्यों धारण किया? ऐसी कौन-सी बात तुम्हारे जीवन-मार्ग में आ गई थी?"

मेरी बात सुन कर उसने एक बार सांस छोड़ी और फिर कहा—"कर्म क्षेत्र में दीर्घायु या अल्पायु का कोई प्रश्न ही पैदा नहीं होता। यह सत्य है कि किसी को भी जीवन में नया रुख लेने के लिए किन्हीं विशेष परिस्थितियों का सामना करना होता है। मेरे सामने भी कुछ ऐसी ही परिस्थितियाँ थीं जिनके कारण आप मुझे इस वेष में देख रहे हैं। किन्तु आप इस बात पर दुःख प्रगट न करें। मैं अपने वर्तमान से पूर्णतया सन्तुष्ट हूँ।"

सुजाता ने उसकी बातों से प्रभावित होकर कहा—"देखिए, प्रत्येक के जीवन में कुछ ऐसी घटनाएं छिपी होती हैं—जिनमें कुछ ऐसा छिपा होता है जो दूसरों के लिये प्रेरणादायक सिद्ध हो सकता है। किसी के हृदय के दुःख जब दूसरों पर प्रगट हो जाते हैं तब वे कम हो जाते हैं—बट जाते हैं। मुझे लगता है कि आप कोई बहुत बड़ा दुःख अपने अन्तस में छिपाये हैं। क्यों नहीं अपनी कहानी सुना देतीं।"

"यदि आपको यह बुरा न लगे तब—" मैंने सुजाता की बात का समर्थन करते हुये कहा।

"मेरी ही दुर्भाग्य-गाथा को सुन कर यदि आप दोनों उस दुःख को बांटना चाहते हैं तो मुझे उसे बताने में कोई आपत्ति नहीं है" साध्वी ने हँस कर कहा और फिर कुछ रुक कर उसने कहना आरम्भ किया— "मुझे बचपन में ही ईश्वर को सौंप दिया गया था और जब मैं श्री जगन्नाथ जी के मन्दिर में प्रभु की परिचारिका थी, तब मुझे यह भी ज्ञात न था कि

किस आशय से मेरे माँ-बाप ने मुझे तेरह वर्ष की अवस्था में जगन्नाथ जी के मन्दिर में चढ़ा दिया था, इसमें उनको भी मैं कोई दोष नहीं देती" उसने अपने माथे पर पड़ी बालों की लट को ठीक करते हुये कहा—"वास्तव में यह सब घोर अशिक्षा का प्रभाव था। हमारे गाँव में, जो पुरी से सोलह मील दूर है—यह प्रथा उन दिनों प्रचलित थी। जिसके घर एक से अधिक लड़की हो जाती वह पुरी के मन्दिर को समर्पित कर दी जाती। मु े भी जब पुरी तक छोड़ने के लिए मेरे पिता आने लगे तो मेरी माँ फूट-फूट कर रोने लगी। उसने आँखों में आंसू भर कर कहा था-"गौरा तू भगवान के चरणों में जा रही है बेटी! आज से तू पराई हो गई।" तब उसकी बातें मेरी समझ में कुछ न आई किन्तु जब पिता जी ने मुझे महन्त लच्छीनाथ के चरणों में सौंपा तो मुझे अनुभव हुआ कि वास्तव में माता-पिता का नाता आज से मेरे लिए समाप्त है। महन्त जी ने मुझे ठाकुरबाड़ी पहुँचा दिया—जहाँ मेरी जैसी पचासों अभागी बहनें थीं। उन सभी को पहनने को अच्छे वस्त्र मिलते और खाने के लिए भी किसी प्रकार की कमी न थी। किन्तु इसके बाद भी मुझे ऐसा अनुभव होता जैसे किसी उन्मुक्त उड़ते हुए पँछी को उसकी इच्छाओं के विरुद्ध पिजरे में बंन्द कर दिया गया हो। प्रातः ही हम सभी उठतीं और स्नान आदि से निवृत हो इस प्रकार शृंगार करतीं, जैसे सभी विवाह मण्डप में एक साथ ले जाई जा रही हों। तब हम मन्दिर में पहुँच कर एक प्रभात-गीत गातीं; जिसका अर्थ होता—'हे प्रभु; तीनो लोकों के स्वामी—अब जाग जाओ—सवेरा हो गया है।' नित्य की इस दिनचर्या से हमें ऐसा ही लगने लगा था मानो जगन्नाथजी स्वयं निद्रा के मोह-पाश में पड़े हों। यह एक ऐसी ही बात थी कि जो संसार का पालन करते हैं उनको ही हमें जगाना पड़ता था—"यह कह कर एक बार वह मृदुल-सी हँसी बिखेर कर बोली—"अब मुझे कभी-कभी उस बात पर हँसी आ जाती है। सोचती हूँ कि जो समस्त भू मण्डल का निर्देशक है, निर्माता है, वह ऐसी बेखबरी की नींद कैसे सो सकता है? यह विडम्बना नहीं तो और क्या है?"

। कर मेरे और सुजाता के मुंह पर हँसी फूट पड़ी।
हुए सुजाता ने कहा "साध्वी बहन आप इन देवरक्षकों
ई अभी नहीं समझीं। इनका बस चले तो ये सारे भूमण्डल
लिए निर्जीव बना कर सुला दें।" यह सुजाता की आदत थी
कि किसी बात का खण्डन करने लग जाती तो एक-पक्षीय होकर।
उसकी बात को वहीं रोक देने की दृष्टि से मैंने साध्वी से कहा "आपकी
जीवन गाथा तो मार्मिक है।"

"हाँ—" उसने कहा और फिर उसने जहाँ से बात छोड़ी थी वहीं से आरम्भ कर दी "क्रमशः दिन बदलते गए और मुझे भी औरों के समान वह जगह रास आ गई। एक पूर्णिमा के दिन मन्दिर में एक बहुत बड़ा उत्सव मनाया गया। यह प्रत्येक वर्ष उसी प्रकार मनाया जाता था। बड़ी दूर-दूर से लोग आए थे। मन्दिर के उद्यान में एक बड़ा-सा मण्डप बनाया गया था। जिसे अनेक रंग-बिरंगे रेशमी वस्त्रों और हरी लताओं से सजाया गया था। बंदनवारें और झंडिया चारों ओर लगाई गईं थीं। मण्डप के बीच में एक मंच सजाया गया जिसके ऊपर एक चांदी का छत्र लगा था। उसके नीचे मन्दिर के महामहन्त आसीन होने वाले थे। मण्डप ठसाठस नर-नारियों से भरा था। गर्मी के दिन होने पर भी लोग उत्सव को देखने के लिए अतीव उत्सुकता लिए हुए थे। उस दिन हम जितनी प्रभु परिचारिकाएं थी, उन्हें सुन्दर वस्त्र अलंकारों से सुसज्जित किया जा रहा था। मंच के दूसरी ओर दक्षिण भारत से आए हुए संगीतज्ञ बैठे सितार मृदंग एवं तानपूरे पर कोई भक्ति भरा गीत गा रहे थे। हम सभी बारीक रेशमी परिधान पहने थीं, हमारे अंगों से चन्दन और केवड़े की सुवासित सुगन्धि बह कर आ रही थी। हम एक प्रकार से आज बेहद प्रसन्न थीं। यद्यपि हमें कुछ भी ज्ञात न था कि उत्सव में हमें क्या करना होगा; फिर भी हमें उत्सुकता थी।

अभी हम तैयार हुई ही थीं कि छोटे पुजारी ने हम में से बारह को

एक ओर खड़ा कर दिया। हम बारह नव दीक्षिता थीं। उन्होंने हम से कहा—'आज से तुम सब भगवान के चरणों में जा रही हो···दुनिया में अब अपनी कहने को कोई भी चीज तुम्हारी नहीं है। तुम्हारा सर्वस्व अब ईश्वर का है।' अपना वाक्य समाप्त कर उन्होंने एक सेवक से सोमरस लाने को कहा। काँस्य पात्र में वह सोमरस बारी-बारी से हम सभी को पिलाया गया। सोमरस में एक अजीब सुगन्धि थी और पीने में वह मीठा था।

"उसके बाद हमें मण्डप में लाया गया। साजों के बीच हमने मण्डप में भक्ति रस के गीत गाये और हमारे गीतों पर प्रसन्न होकर जमींदार वर्ग के लोगों ने खूब धन गद्दी पर चढ़ाया। इसी बीच विभिन्न स्थानों से आए हुए कई संगीतकारों ने गीत सुनाए, किन्तु तब हम सभी की पलकें भारी हो रही थीं। हमें लगा जैसे हम हवा में उड़ी जा रही थीं। रह-रह कर हमें बेहोशी के दौरे उठने लगते। किसी प्रकार समारोह समाप्त हुआ और तब रात्रि काफी बीत चुकी थी। सेवक हमें सहारा देकर बड़े महन्त जी के कक्ष तक लाए। कलाबत्तू की चिक के भीतर जो दृश्य हमने देखा, उसे देख कर कुछ अचेतन अवस्था में भी हम काँप गईं। एक सुन्दर-सी गद्दी पर महामहन्त बैठे थे और उनके चारों ओर अर्धनग्न अवस्था में दर्जनों प्रभु-परिचारिकाएं खड़ी थीं। मानो वे सब राधाएँ हों और महामहन्त कृष्ण। मुझे छोटे पुजारी के वे शब्द याद आने लगे—'आज से तुम्हारा सर्वस्व भगवान का है······' मन ही मन मैंने सोचा—ओह! तो क्या यही वे भगवान हैं जिन्हें हम सर्वस्व अर्पण करेंगी? क्षण भर में मेरे अन्तस में हजारों बातें घूम गईं और उसके बाद मैं काँप कर रह गई। मुझे याद आने लगा कि वह सोमरस महासोमरस था। तब न जाने कहाँ से मेरे पैरों में दैवी शक्ति-सी आ गई कि वहाँ से दौड़ी हुई मैं स्टेशन तक चली आई।"

उसकी बातों को सुन कर लगता था जैसे अब भी उस घटना की भयानकता ने उसे भयभीत कर रक्खा हो। वह हाँफने लगी थी और इस शीतल प्रदेश में भी उसके माथे पर पसीने की दो बूँदें चमकने

लगीं थीं।

एक हल्की सी साँस छोड़ उसने फिर कहना आरम्भ किया—"वहाँ से भागकर मैं पास ही के एक गाँव में चली गई। वह भोर का झुटपुटा था और मैं बदहवास-सी दौड़ी जा रही थी। जब मैं गाँव के बाहर पहुँची तो कुत्तों ने मेरा पीछा करना आरम्भ किया। तभी पास के कुँए पर स्नान कर रहे एक सज्जन की मुझ पर दृष्टि पड़ी। वे दौड़े आए और कुत्तों से मेरी रक्षा की। मेरी विपदा का हाल सुना।"

यहाँ वह ठहर गई, कुछ रुक कर उसने फिर कहा—"मैं उनका नाम नहीं ले सकती। गाँव में अपने घर में एकमात्र सदस्य थे। उन्होंने बड़े यत्न से मुझे अपने घर रक्खा। गाँव के लोगों ने उनसे कहा—'यह चलती-फिरती लक्ष्मी है। इसकी जात-धँरम का कोई ठिकाना नहीं। इसे अपने घर में क्यों रक्खे हो?' उन्होंने लोगों को उत्तर दिया—'भगवान के यहाँ से जब कोई जाति-धरम लेकर आया नहीं है तो यहाँ भी उसका क्या काम? मुझे तो सौभाग्य से गृहलक्ष्मी मिली है। मैंने ब्रह्म मुहूर्त में इसे पाया है।...मैं इसे फेंक तो नहीं दूँगा...।' उनका मुखमण्डल तब एक दीप्त ज्योति से चमक उठा था। जब तक वे जीते रहे उन्होंने मुझे लक्ष्मी ही मान कर रक्खा। वह अपने खेतों पर और भी अधिक परिश्रम से काम करने लगे थे।" यह कहते-कहते साध्वी की निर्दोष आँखें डबडबा आईं। उसने भरे हुए गले से कहा—"जब पहली बार वे फ़सल बेच कर मन्दिर में प्रसाद चढ़ाने आए थे, तब उन्होंने मेरे माथे पर हाथ रख कर कहा था—'लक्ष्मी आज से तू धन लक्ष्मी हुई!' उनके वे शब्द मुझे अभी तक याद हैं।...इसी प्रकार दस वसन्त हम काट गए और ग्यारहवें वसन्त में जब हम दोनों तीर्थयात्रा करते हुए द्वारका गए तो एक विषधर ने उन्हें मुझसे छीन लिया। उस बैरी से हमारा सुख न देखा गया......।" वाक्य को पूरा करके वह बच्चों के समान बिलख कर रोने लगी।

सुजाता ने उसकी पीठ पर हाथ रख कर कहा—"दीदी, रोओ मत।

यह संसार बहुत लम्बा है—ऐसे साहस छोड़ोगी तो कैसे काम चलेगा।"

उसने अपने रूमाल से साध्वी की आँखें पोंछीं। तब सुजाता के मूक हृदय की उमड़ती सम्वेदना का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता था। उसके सन्तप्त चेहरे को देख लगता था जैसे अनगिनत दुःख अपने में छुपाये होने पर भी इस नारी में उन्हें झुठला देने की असीम शक्ति है। स्वयं पर अविश्वास करने वाली यह सुजाता कैसे दूसरे को विश्वास और धैर्य दिला रही थी—यह देख कर मैं मन ही मन उसके विचारों में खो गया।

अगली चट्टी पर हमारे घोड़े खड़े थे। घोड़े वाले बैठे तमाखू पी रहे थे। जाते ही मैंने उनसे कहा—"घोड़े तुम लोग ले चलो, हम पैदल ही चलेंगे।"

हमारा आदेश मिलते ही उन्होंने घोड़े आगे बढ़ा दिए। चारों ओर फैली हरियाली के बीच वैष्णवी का मन्दिर चमक रहा था और वहाँ घण्टियाँ बज रहीं थीं। हमारे पैर अपनी मंजिल को छू लेने के लिए व्यग्र कंकड़ों को चीरते हुए आगे बढ़े जा रहे थे।

साध्वी की दुःखद गाथा अब सुनने की इच्छा नहीं रह गई थी। यद्यपि किसी की भी जीवन गाथा अपने आप में एक दर्शन छिपाये होती है और उसमें सुनने वालों को आनन्द आता है। किन्तु यदि केवल अपने मन बहलाने के लिये ही किसी की दुःखद गाथा सुनी जाय तो यह एक ऐसे ही कृत्य के समान है—जैसे बड़े-बड़े नवाब अपने मनोरञ्जन के लिए पशुओं का मल्लयुद्ध कराते थे। विजेता पशु के गले में जयमाला डालने से ही वह समझते थे कि अब उनका कर्त्तव्य पूर्ण हो गया है। पराजित पशु को देख कर, उसके खून से सने नथुनों को लक्ष कर वे पैशाचिक अपने मन को प्रसन्न कर लेते। मैं सोचने लगा मनुष्य के इस समुन्नत रूप के बारे में। वास्तव में नए-नए आविष्कार कर आज का मानव मानवता से कितनी दूर चला गया है। एक चींटी तक को मनुष्य जीवित देखना पसन्द नहीं करता—जो उसके निकट आई उसे रौंदना शुरू किया—

निष्कारण ही तो—केवल दिल बहलाने के लिए। जो भी उसके रास्ते में आया—उसी को उसने नेस्तनाबूद किया। मुझे लगा—जैसे सभ्यता की दुहाई देने वाला मनुष्य हिंस्र पशु से भी बढ़ कर कहीं अधिक रक्त पिपासु है, क्रूर और स्वार्थी !

साध्वी अपने आपे में लौट आई थी, मैंने उसे सान्त्वना देने की दृष्टि से कहा—"बहन ! तुम्हारी गाथा सुन कर हृदय ने अशान्ति ही पाई। पर धन्य हो, तुम जो इतने दुःखों को अपने अन्तर में छिपाये अब भी जीवन की लड़ाई लड़ रही हो।"

उत्तर में उसने कुछ न कहा। मुझे लगा जैसे धैर्य को स्त्री के वेश में खड़ा कर दिया गया हो और इस नारी के रूप में वह अनेक बाधाओं को चीरता हुआ आगे बढ़ा जा रहा हो।

सुजाता की चाल धीमी होती जा रही थी। लगता था जैसे वह थक गई हो। मैंने उसे देख कर एक बनावटी मुस्कान को होठों पर लाते हुए कहा—

"लगता है, आपकी शक्ति से बाहर दिया गया यह कष्ट इस तृणकाय शरीर को सह्य नहीं हो रहा।"

वह मुस्करा दी। उत्तर में उसने केवल इतना कहा—'सीमा से बाहर चलना ही मानव-प्रवृत्ति है...उसी में उसका जीवन लहराता है।"

उसके उत्तर को सुनने के बाद कुछ भी कहने को शेष नहीं रह जाता था, अतः मैं चलता रहा।

अब हम द्रोणगिरि शिखरमाला पर चल रहे थे, जहाँ यात्रियों की काफी चहल-पहल थी। सम्भवतः कोई पर्व निकट आ रहा था। इसलिए दूर-दूर से लोग मनौतियाँ करने आ रहे थे। हमारी दाहिनी ओर एक सुन्दर उद्यान दिखाई दे रहा था, जिसमें विभिन्न प्रकार के पर्वतीय पुष्प दूर तक अपनी सुगन्धि बिखेर रहे थे। उद्यान के चारों ओर एक बाड़ लगा दी गई थी और मुख्य द्वार पर खाकी वर्दी पहने एक रखवाला खड़ा था—जो उसकी सुरक्षा के लिए निर्धारित था। द्वार पर झूलती

हुई पट्टिका पर लिखा था—राजकीय जड़ी-बूटी उद्यान।

वहां की छटा देखते हुये हम आगे की ओर बढ़ गये—जहाँ एक ऊँचे शिखर से क्षीर गंगा गिरती थी। ऊँचे से गिरने के कारण जल दूध के तुल्य श्वेत लग रहा था। नीचे जहाँ वेग से पानी गिरता वहाँ के पत्थर जैसे उस चोट को सहने के आदी हो गये थे। शायद इसीलिए वह बिना किसी व्यथा के क्षीर गंगा को हँस-हँस कर अपने ऊपर ले रहे थे। आस-पास एक खाई-सी हो गई थी और पत्थरों में चारों ओर को हरे रंग की काई जम गई थी। उन पाषाणों को चीरती जब क्षीर नदी की पुनीत पावनी धारा आगे बढ़ती तो पाषाणों की दरारों में से निकलने वाले फेन को देख क्षणभर के लिए हम आत्मविभोर से हो गये। यहीं से चाचरी पर्वतमालाएं प्रारम्भ होती हैं जो दूर तक अपनी सुन्दरता की छटा बिखराती दिखाई दे रहीं थीं। मानों वह अपने उच्च निनादयुक्त स्वर में कह रही हों—हे मानव, तेरा गर्व उस कूप मण्डूक से अधिक नहीं जो कुंए को ही सागर मान कर अपनी सत्ता को ही महान् समझने की भूल करता है......उठ, आगे बढ़ और देख! ......देख कितना विस्तृत है यह विश्व! इसमें तेरी सत्ता एक चींटे से अधिक नहीं है।

सामने शान्त-भाव से वैष्णवी देवी का मन्दिर खड़ा था। मानो वह उस निर्जन एकान्त में किसी की साधना कर रहा हो। उसके उन्नत भाल पर मानो चिर शान्ति निवास कर रही हो और परिश्रान्त मानव के मस्तक पर अपनी पवित्र छाया बिखेर कर उसे शीतलता दे रही हो। मन्दिर के चारों ओर एक घेरा पड़ा था, जिसमें दर्जनों भट्टियाँ चढ़ी हुई थीं और उनमें से उड़कर आने वाली शुद्ध घी की सुगन्ध चारों ओर फैल रही थी। देवी को चढ़ाने के लिये अपनी श्रद्धानुसार सीधे-सादे ग्रामीण लोग पकवान बना रहे थे। कपड़ों पर छोटे-छोटे बच्चे लेटे हुए अपने हाथ-पैर फेंक रहे थे। कोई शान्त भाव से इस भीड़ की ओर देख सम्भवतः यह जानने की चेष्टा कर रहा था कि यह क्या हो रहा है! यहीं कोई खिलौने वाला अपनी लच्छेदार आवाज से

बच्चों को अपनी ओर आकर्षित कर रहा था। आगे एक पेड़ के पास हमें अपने घोड़े बँधे दिखाई दे गए। कुमार साहब भी वहीं बैठे अपनी पाइप का धुआँ उड़ा रहे थे। हमें देखते ही बोले "फौज में हमने एक ही बात सीखी। और......और वह यह...कि अगर सफ़र शुरू ही कर दिया है तो फिर रुको नहीं—बढ़ते जाओ। अपनी इसी आदत के मुताबिक मैं यहाँ तक सरपट दौड़ा चला आया।"

उनकी वाणी में मिठास और ओज का सम्मिश्रण था। अपनी बात पर वे स्वयं ही हँस पड़े। यह उनकी पुरानी आदत थी। हमने भी उन का साथ दिया। तभी उनकी नजर हमारे साथ की साध्वी महिला पर ठहर गई। बोलने में वह कभी धैर्य से काम न लेते! अत: उसे देखते ही बोले "बेटी! तुम्हें देखकर ऐसा लगता है कि हम बूढ़ों को अपने आप कब्र में सिर डाल लेना चाहिये। अरे भाई, सन्यास लेने की तो हमारी उम्र है। तुम्हारी जैसी बच्चियाँ इस पोशाक में?"

उनकी बात में गम्भीरता थी। साध्वी क्या कहे? असमंजस में थी अत: उसकी ओर से मैंने ही कहा "कुमार साहब! दरअसल बहुत कुछ बातें इन्सान के वश में नहीं होतीं।"

"हाँ" गम्भीर वाणी में वे बोले "तुमने सच ही कहा है।" उन्होंने कुछ सोचते हुए एक दीर्घ नि:श्वास ली और सुजाता की ओर को एक क्षण के लिये देखकर फिर दूसरी ओर को दृष्टि घुमा ली।

पास ही की एक दुकान से लेकर हम सब ने पेट भर पूड़ियाँ खाईं। साध्वी को संकोच करते देख कुमार साहब के नैनों में वात्सल्य छलक आया। स्नेह भरे स्वर में उन्होंने कहा "संकोच क्यों करती हो बेटी! अरे इसमें क्या है? पागल!!"

उनकी बात सुनकर साध्वी ने कौर तोड़ कर पहले माथे से लगाया और फिर मुँह में डाल लिया। सम्भवत: उस समय भी वह अपने अतीत में खोई थी, क्योंकि अभी तक उसकी नम आँखें मौन-भाव से अपनी बीती कहानी प्रकट कर रहीं थीं।

उस रात्रि को हमने वहीं ठहरने का निश्चय किया। पुजारी की कृपा से हमें काम चलाऊ कपड़े भी मिल गये। समस्त रात्रि वहाँ मेला-सा लगा रहा। वैष्णवी मन्दिर के द्वार पर बैठी ग्रामीण महिलाएँ अपने सीधे-साधे ग्राम्य गीतों के द्वारा मनौतियाँ माँगती रहीं। कभी ढोलक के स्वर कानों में आते तो किसी को स्तुति करते देख मन को शान्ति-सी अनुभव होती। कभी कोई ऊँचे में बँधी घण्टियों को हिला कर अपनी श्रद्धा प्रकट करता हुआ दीख पड़ता। उस रात मुझे लगा मानों इस स्थान पर एक संगीत बहकर मन-वीणा झंकृत कर रहा है और पर्वत मालाओं द्वारा छोड़ी गई वह शीतल साँसें जैसे सर्वसाधारण के लिए पवित्र वायु का रूप धारण कर रही हों।

शाम को हम सब मन्दिर देखने गए। हमने मन्दिर के बाहर लगे शिलालेखों को भी पढ़ा, जो ताम्र पट्टिकाओं पर लिखे हुए थे और उन्हें शिलाओं में जड़ दिया गया था। सं० १२३८ में पर्वतीय राजा सुधार-देव द्वारा स्थापित यह मन्दिर आज जन-जन का आराधना स्थल बन गया था। वर्ष भर में न जाने कितने भक्तगण यहां आकर अपने जीवन की चिर संचित श्रद्धा उडेलते थे और युगों से पनप रहे महान आत्म-विश्वास के सहारे स्वयं ही आश्वस्त हो जाते थे। मन्दिर के आस-पास और भी कई छोटे-छोटे मन्दिर थे। जिनके इतिहास के बारे में कोई जानकारी प्राप्त न हो सकी। किन्तु वे भी वैष्णवी के इस प्राचीन मन्दिर के साथ अनुचर रूप में अपनी शृंखला जोड़ रहे थे।

काफ़ी रात गए, हम धर्मशाला के बरामदे में लेटे। सुजाता और साध्वी एक दूसरे के निकट एक ही कम्बल में लेटी थीं और वे धीमे स्वर में बातें कर रही थीं। लगता था जैसे कुछ ही समय में वह एक दूसरे से घनिष्ठता का नाता जोड़ चुकी हैं।

दूसरी ओर मैं और कुमार साहब लेटे थे। नित्य के समान मन आज अधिक अशान्त नहीं था। अतः शीघ्र ही मैं निद्रा के आंचल में

विश्राम पाने लगा।

रात्रि को यकायक ही मैं जाग गया। शायद वह भयावना स्वप्न ही मेरी निद्रा भंग होने का कारण था। स्वप्न में मैंने देखा था कि यकायक मैं व्योम में उड़ने लगा था, मेरे पैर भारी हो गए थे। लगता था, अनिच्छा से मैं उड़ा जा रहा हूँ और नीचे की गहराई में गिरने की कल्पना से मेरी आवाज़ कहीं घुट कर रह गई, लगती थी। इसी बीच मेरी नींद खुल गई। मैंने देखा मैं जहाँ पड़ा था—ठीक वहीं हूँ। एक लम्बी साँस छोड़ते हुए मेरे शरीर में सिहरन-सी दौड़ गई।

आकाश में चाँदनी छिटकी हुई थी और चारों ओर फैली हुई घाटियों में उसका प्रकाश ऐसे ही छिटक रहा था मानों कोई माँ अपने बच्चे पर लाड विखेरती हुई मुस्करा रही हो। चारों ओर शान्ति व्याप्त थी। एक ऐसी शान्ति, जिसमें कोई भय न था, कोई राग-द्वेष और पिपासा न थी। मैंने दूसरी ओर मुड़ कर देखा तो सुजाता के कपोलों पर चाँद की धवल किरणें कुछ क्षणों के लिए विश्राम करने आ गई लगतीं थीं।

मुझे अपनी कल्पना पर स्वयं ही हँसी आ गई। मन ही मन मैंने कहा—तू चाँद की किरणों को उसके कपोलों पर विश्राम करने की कल्पना कर क्या स्वयं को धोखा नहीं दे रहा? क्या तू स्वयं उन किरणों में नहीं छिपा है?—फ्रायड ने एक स्थान पर कहा है: मनुष्य के अन्तर में एक पहरुआ होता है जो उसकी उद्दाम वासनाओं पर कड़ा पहरा देता है। किन्तु उसकी आँखों से भी बचती हुई वासनाएं अपना केन्द्र ढूंढ़ लेती हैं। तो क्या मेरे मन में भी वे पनप रही हैं? मैंने स्वयं से प्रश्न किया। अभी मैं उत्तर सोच भी न पाया कि साध्वी को वहाँ न देख वह बात मेरे मन में ही कहीं तिरोहित हो गई। इतनी रात्रि गए वह कहाँ गई होगी? यही प्रश्न बार-बार मेरे मन में उठ कर रह जाता। मैंने उठ कर चारों ओर दृष्टि दौड़ाई। सैकड़ों यात्री यत्र-तत्र छिटके नींद के अस्तित्व में लीन थे— पर साध्वी का कहीं पता न था।

उठ कर मैं आगे की ओर चला गया। मन्दिर के दीपक की धीमी-सी ज्योति अब भी जगमगा रही थी। अनायास ही मेरे पैर उधर को मुड़ गए। तभी कानों में कोई धीमी-सी आवाज़ सुनाई दी जैसे कोई सितार के तारों को छेड़ रहा हो। चमत्कारिता में मेरा विश्वास नहीं। पत्थर की मूर्ति मनुष्य को पाप-पुण्य का भय दिखाकर बुरी प्रवृत्तियों से खींच ले, उसकी आत्मा में झंकार भर कर उसे अपने मायाजाल में फंसा ले, इतना ही मैं मानता हूँ और इसी लिए इस खेल मे मुझे अरुचि भी नहीं। किन्तु उन परम्पराओं में मेरी आस्था नहीं है कि पत्थर सजीव होकर बोलने लगें।

मैं मन्दिर के भीतर गया तो कल्पना के विरुद्ध एक नवीन बात देखी। साध्वी अपने केशों को चारों ओर छिटकाए हल्की अंगुलियां अपने तंबूरे पर चला रही थी और धीरे-धीरे उसके कण्ठ से मीरा का एक गीत फूट रहा था वह तन्मय होकर मुस्कराती हुई वैष्णवी की मूर्ति के सामने गा रही थी:—

"ना मैं जानूं आरती-वन्दन—ना पूजा की रीत
हे री मैं तो प्रेम दीवानी मेरा दरद न जाने कोय।"

इस गीत में मीरा पुनः जीवित हो गई लगती थी; उसकी लय में जो वेदना छिपी थी उससे सैंकड़ों वर्ष पूर्व की मीरा साकार होकर सामने खड़ी दिखाई देती थी। मैंने उसके गीत में कोई बाधा न दी वरन् एक स्तम्भ की ओट में खड़ा हो उसकी स्वर लहरी सुनता रहा। इतनी रात गए यह किसके लिए गा रही है ? कौन है वह जिसने इसको दर्द दिया है ! ओह ! संयम नाम की कोई अड़चन मुझे न रोक सकी। स्वतः ही आखों की राह बह निकली। वह गाये जा रही थी और तन्मयता के साथ। सामने दीपक के प्रकाश में वैष्णवी की मूर्ति मानो उसके भाग्य पर हँसती हुई कह रही थी— 'बहुत देर हो गई, अब कुछ नहीं हो सकता।'

मुझसे अब और अधिक न ठहरा गया। बड़ी तेजी से मैं उसके पास पहुँचा और मैंने उसके हाथ से तंबूरा छीन लिया। विषादयुक्त

वाणी में मैंने उससे कहा— "साध्वी ! बस करो, और न गाओ !!"

वह हतप्रभ-सी मेरी ओर देखती रह गई । उसके मुँह से उसी प्रकार निकल गया—"क्यों ?"

"इस लिए कि..." मैंने अटकते हुए कहा—"इन पर्वतों की हरियाली सूख जायेगी । यह पाषाण-प्रतिमा तरल पदार्थ में बदल जायेगी । न बहाओ साध्वी यह वेदना—न बहाओ ।" —भावावेश में मेरा कण्ठ भर आया था और आँखें पथराने-सी लगी थीं ।

"अच्छा"—उसने एक लम्बी साँस छोड़ते हुए कहा और फिर तम्बूरे का तार तोड़ कर देवी के पास फेंक वह उठ खड़ी हुई । असीम दुःख से पीड़ित होकर जैसे कोई मां अपने रक्त पिण्ड को फेंक देती है उसी प्रकार साध्वी ने अपना टूटा हुआ तम्बूरा देवी के चरणों में फेंककर कहा—"अब कभी नहीं गाऊंगी" और फिर वह बच्चों के समान रो पड़ी ।

ओह अपनी इस मूर्खता पूर्ण भावुकता के वशीभूत होकर मैंने यह क्या कर डाला । इस गरीब का दिल तोड़ कर मुझे क्या मिला ?

फिर भी मैंने उसे शान्त किया—"इसी बल बूते पर संसार में जी सकोगी ? उठो, धैर्य लाओ । देखो तुम्हारा धैर्य उड़ा चला जा रहा है—उसें रोक लो–नहीं तो हाथ मलती रह जाओगी ।"

मैंने बिना किसी संकोच के उसे सहारा देकर उठाया और टूटा हुआ तंबूरा उसे देते हुए कहा—"यह तुम्हारे जीवन का चैन है ! इसके तारों को पुनः जोड़ो और ढूँढ़ो इनमें अपने भविष्य को, जो आंचल पसारे तुम्हें शान्ति देने को खड़ा है ।"

वह हतप्रभ-सी मेरी ओर को देख रही थी, जैसे मैं उसकी कसौटी हूँ । क्षणभर को वह मानो अपने आप में खो गई हो । उसने एकटक अपनी दृष्टि मुझ पर स्थिर रखते हुए कहा—"तो ले लो मुझे अपनी छाया में...मैं जीऊँगी और चैन लूँगी...।"

उसकी बात से मुझे आश्चर्य हुआ। मैंने उससे भावपूर्ण स्वर में

कहा—"अस्थायी किनारे को स्थायी समझकर मृग-मरीचिका में न पड़ो। एक बाढ़ आयेगी और इस किनारे को काट कर ले जायेगी। जीवन का सार मर-मर का जीने में है—न कि जी कर मरने में।'

"हां तुम ठीक कहते हो"—उसने एक उच्छ्‌वास भर कर कहा—"वास्तव में मैं पथ भ्रान्त हो गई थी।" उसने एक वार आंखें बन्द कर किसी अज्ञात को नमन किया। फिर वह बुदबुदाई—"मेरे स्वामी ! मुझे क्षमा करना।"

इसके बाद वह आकर चुपचाप फिर सुजाता के निकट सो गई। मैं भी आकर अपने स्थान पर पड़ गया। किन्तु विचारों के प्रवल संघर्ष ने मुझे सोने न दिया। भोर के समय ही मेरी आंख लग पाई।

दूसरे दिन सबेरे जब हम चलने को हुए तो मैंने साध्वी से कहा—"आइये आप भी हमारी संख्या में वृद्धि कीजिए। भटकना ही हमारे दल का काम है।"

वह बोली—"भगवान आपका मार्ग निष्कण्टक करें। मैंने राह पा ली है।"

"क्यों क्या आप यहीं रहेंगी ?"

"हां" वह बोली—"यहां से तभी जाऊँगी जब मन ऊब जायेगा, अभी तो माँ वैष्णवी के मन में मेरे लिए ठौर है।"

"जैसी आपकी इच्छा" मैंने कहा—"मैं आप पर अधिक जोर नहीं डालूंगा। क्योंकि जोर देकर किसी को बांधा नहीं जा सकता।"

वह बोली—"जो कुछ आप मुझे देकर जा रहे हैं उसे क्या जीवन रहते कभी भूल सकूंगी। बांधने की बात तो पशुओं पर ही चरितार्थ हो सकती है। मनुष्य तो अनुभूतिशील होता है। उसे बांधने के लिए वचन ही होते हैं।"

"तो एक वचन दीजिए"—सरल शब्दों में मैंने उससे कहा।

"कहिए—"उसने विना किसी संकोच के पूछा।

"यही कि..." मैंने कहा—"अब आप अपने अतीत को विस्मृत कर देंगी और जीवन से प्यार करेंगी।"

"हाँ"—हकलाते हुए उसने गद्‌गद्‌ कण्ठ से कहा—"तुम...तुम मनुष्य की परिधि से बहुत आगे बढ़ चुके हो। इसी लिए मैं तुम्हें नमस्कार करती हूँ।"

उसने हाथ जोड़ दिए। मैंने भी उसका अनुसरण किया और फिर अठारह घण्टों में ही एक दूसरे का नैकट्य प्राप्त कर लेने वाले हम दोनों यात्री एक दूसरे से विदा हुए।

कुमार साहब और सुजाता के अनुरोध को भी उसने हँस कर टाल दिया। जब हम ढलान उतरने के लिए घोड़ों पर सवार हुए तो दो आंखें हमें विदा दे रही थीं! हमने भी आंखों के ही माध्यम से उन्हें विदा कही और तभी ओस जैसे दो बिन्दु उस निर्जीव मिट्टी पर गिर कर लुप्त हो गए। मानों वे हमें याद दिलाते कह रहे हों—

वर्षों के नाते कुछ नहीं होते। मनुष्य एक है और उसमें रमी आत्मा का रूप भी एक। परस्पर एक-दूसरे के दुखों को पीने में मदद दो तो हृदय फिर दो नहीं रहते—अपने अनन्त रूप में विलीन हो जाते हैं।

छः

द्रोणगिरि से वापिस लौटकर अगले दिन हम मन्दिरों की उस पुरातन नगरी की स्मृति मन में लिए अपने अगले मार्ग पर चल पड़े वही चार यात्री—कुमार साहब, सुजाता, मैं और हमारा मार्गदर्शक लछुआ ! हृदय में उठती हुई पिछली समस्त स्मृतियों को क्रमशः मन में अध्ययन करते हुए हमारे पैर उठते जा रहे थे ।

अन्य दिनों की अपेक्षा आज कुमार साहब अधिक गम्भीर लग रहे थे । उनके माथे की रेखाएँ कुछ चिन्ता का-सा भाव लिए थीं । लगता था जैसे किसी गम्भीर सोच में वह डूबे हुए हों । पाइप से अनवरत धुआँ निकलता जा रहा था और वे उसे अनमने से पीते हुए चल रहे थे । सुजाता उनसे कुछ आगे मन्थर गति से हरी-भरी घाटियों पर दृष्टिक्षेप करती हुई चल रही थी । मैं उसके और कुमार साहब के बीच में था। लछुआ हम सब से आगे सिर पर सामान लादे तेजी से चला जा रहा था ।

कुमार साहब को चिन्तित देख मैंने उनसे जिज्ञासा प्रकट की —"लगता है आज आप चिन्तित से हैं । क्या मैं इसका कारण जान सकूंगा ?"

माथे से चिन्ता की क्षीण रेखाओं को बनावटी ढंग से बदलते हुए वह सर्वथा एक फीकी-सी हँसी के साथ बोले "आप स्वयं अकारण ह चिन्ताओं के सताए हुए हैं न इसी लिए आप सभी को चिन्तित देखते हैं ।"

"सम्भव है"—मैंने कहा "किन्तु आप ही की बात यदि स्वीकार कर लू तब तो चिन्ता जैसे मानसिक रोग का विशेषज्ञ मुझे ही होना चाहिए क्योंकि अकारण की चिन्ताएँ जिसे घेरे रहेंगी, चिन्ता के बारे में उसके

अनुभव साधारण लोगों से कहीं अधिक होंगे। अपने इसी अनुभव के आधार पर मैंने यह स्पष्ट किया था कि आप किसी आन्तरिक चिन्ता के चक्रव्यूह में हैं।"

"वैसे तो आप जानते हैं कि संसार में सभी किसी न किसी चिन्ता में लीन है। कोई सुख और वैभव से चिन्तित होकर भाग रहा है तो कोई उसे पा लेने की चिन्ता में आतुर है। किन्तु मैं इनमें से किसी भी चिन्ता का शिकार नहीं हूँ फिर भी आत्मविश्वास से यह नहीं कह पाता कि मैं पूर्णतः चिन्तारहित हूँ। मेरी चिन्ताएँ एक नहीं बहुत हैं और उनका नुक्तए-निशाना एक ही है। उसे आप भी जानते ही हैं।" यह कह कर उन्होंने पाइप से कश खींचते हुए धुएँ का गहरा नीला गुबार शून्य में छोड़ा जो डोरियाँ-सी बनाता हुआ व्योम में विलीन हो गया।

मैंने कहा "संसार हमारा रगंमच है। हम सम्मिलित रूप से एक पार्ट अदा करने यहाँ इकट्ठे हुए हैं। लाख चाहने पर भी हम अपनी सोची सारी बातें पूरी नहीं कर सकते। क्योंकि एक अदृष्ट निर्देशक के संकेतों पर हमारी प्राणशक्ति नाच रही है। जहाँ अपनी इच्छा से न तो हम जी सकते हैं और न मर सकते हैं वहाँ चिन्ता करना एक विडम्वना जैसी ही बात तो है। हम लाख चिन्ता करें होगा उतना ही जितना हमारी परिधि में है—उससे अधिक नहीं।"

"हाँ" वे बोले—"बात तो ऐसी ही है किन्तु हम मनुष्य इस बात को याद ही कब रखते हैं। हमारा दायरा कितना है? इसकी जानकारी भी तो हमें वक्त रहते नहीं होती। आज तक दुनियाँ में जितने भी बड़े लोग हुए हैं वे सभी अपनी मंजिल तक पहुँच सके हैं यह नामुमकिन है।"

"तब आप उनके परिणाम से तो परिचित हैं ही।" मैंने उनकी बात का उत्तर दिया "जिनके पास असीमित वैभव था उन्होंने यह समझने की भूल की कि हम अजेय हैं। हमें कोई गिरा नहीं सकता। किन्तु समय ने उनको जो चोटें दीं वह इतनी प्रबल थीं कि उन्हें गिरने के पूर्व अपने अतीत पर विचार करने का अवसर भी न मिला। महाभारत की पृष्ठ-

भूमि को ही ले लें, धन और ऐश्वर्य के मद में चूर राजाओं ने असीम और अनन्त सत्ताधीश को विस्मृत कर दिया और उन्हें यह भ्रम हो गया कि वे ही सब कुछ हैं। समय आया और उनके गर्व खण्डित हो गए। पाण्डव जो यह समझते थे कि इतने बड़े संसार में उनकी प्रभुता सर्वाग्र है, दूसरों पर अपनी प्रभुता लादने के लिए जिन्होंने राजसूय यज्ञों का अनुष्ठान किया। वह विजय प्राप्त कर लेने पर भी कलपते रहे। इतना विशाल साम्राज्य जीत कर भी उन्हें शान्ति न मिली, उनका हृदय रो उठा था क्योंकि उस विशाल साम्राज्य में इने-गिने लोग रह गए थे जिन पर वे सत्ता कायम रखते! इसके विपरीति उनकी दृष्टि जब पुँछे हुए सिंदूर, रीती गोदों और अंधेरे घरों में जाती तो उन्हें लगता जैसे इस वैभव के महल में लाखों मासूम बच्चों के रक्त का गारा, किसी के घर के प्रकाश स्वरूप लाल की हड्डियों की ईंटे और अबलाओं के फूटे नसीब समाविष्ट हैं तो उन्हें वही वैभव काटने को दौड़ता…"

कुमार साहब स्तब्ध भाव से मेरी बातें सुनते जा रहे थे और सुजाता जो हमारे साथ चल रही थी बातों में रुचि लेने लगी थी। मैंने अपनी बात जारी रक्खी—"और तो और भीष्मपितामह और द्रोण जैसे महा-रथी भी एक दिन उसी मिट्टी का आश्रय लेकर संसार से विदा हुए, जिससे वे अपने को दूर समझते थे। दुर्योधन और उसके साथी तो अपने गर्व को साथ लिए चले गए—कृष्ण भी न रह सके। इतने बड़े नर-संहार में न्याय का पक्ष लेने वाले और सम्पूर्ण महाभारत के निर्देशक भी एक बहेलिए के तीर का बहाना लेकर गए।"—मैंने एक साँस खींची और फिर कहना प्रारम्भ किया—"महान सिकन्दर, जूलियस सीज़र और नैपौलियन बोनापार्ट जैसे विश्व-विजेता आनन-फानन में चले गए। आज इनकी कथाएँ ही हमारे बीच में हैं! क्या वे सब इतनी शीघ्रता से चले जाना चाहते थे, कभी नहीं। उनका बस चलता तो वे ब्रह्माण्ड के कण-कण में व्याप्त हो जाते। वे ईश्वर से भी आगे बढ़कर पत्ते-पत्ते में छा जाते किन्तु यह बात उनकी परिधि के बाहर थी, अतः शौर्य के जिस

शिखर पर वे तेजी से चढ़ गए, जब गिरने का समय आया तो गिरे भी उतनी ही तेजी से।"

कुमार साहब ने मेरी बात सुनकर कहा—"परन्तु अब ऐसा लगने लगा है कि साइंस उस अनन्त शक्ति के सृष्टा के रहस्य को कभी न कभी खोज कर रहेगा।"

"यह सब मन बहलाने की बातें हैं"—मैंने उनकी बात को बीच में ही काटते हुए कहा— "जो संहार शक्ति का आश्रय लेकर अणु और उद्जन बमों की सृष्टि करके ही अपने आपको सर्वशक्ति सम्पन्न समझ बैठे हैं, वे यह क्यों भूलते हैं कि उन बमों की चपेट में आने के भय से वे स्वयं भी आंतकित हैं। फिर संहार शक्ति तो ईश्वर ने एक कीड़े को भी दे रक्खी है। एक चींटी हाथी को दंश करके उसे समाप्त कर सकती है, किन्तु जिला नहीं सकती। यदि चींटी अपने आपको सर्व शक्ति सम्पन्न समझले तो यह एक विडम्बना से अधिक क्या है कुमार साहब! प्रकृति की प्रत्येक वस्तु से प्यार करना मानव का सबसे बड़ा धर्म है, उसके आधार पर ही विज्ञान उन्नति कर सकता है। हिरोशिमा को ध्वस्त करने वालों को यह नहीं भूलना चाहिए कि ऐसे स्वार्थलोलुप सिद्धान्तों के आधार पर जिस विज्ञान की उन्होंने सृष्टि की है, वह एक दिन उनके अपने देश को भी मरुस्थल और खण्डहर बना देगा। अन्याय कभी फलीभूत नहीं होता और उसके आधार पर खड़ी की गई कथित शान्ति की इमारत एक हल्के-से झोंके में ढह पड़ती है।"

हम द्वाराहाट से चौखुटिया के मार्ग पर चल रहे थे। एक छोटी सी नदी हमारी दाहिनी ओर बह रही थी और उसके किनारे-किनारे बालुकामय मार्ग के दोनों ओर दो बड़ी घाटियाँ फैली हुई थीं उनमें एक ऐसी हरियाली छाई हुई थी जिसे देखकर लगता था कि वह कभी सूख नहीं सकेगी। नदी का जल नील वर्ण का था और उसमें जानवरों के झुण्ड बैठ कर शीतलता का अनुभव कर रहे थे। एक भूरे रंग की भैंस आँखें मूँदे हुए अपने समुदाय में बैठी थी। उसे देखकर लगता जैसे उस

समय वह बहुत दूर किसी शीतल लोक में अपनी आत्मा को विश्राम दे रही है। आगे नदी में पड़े पत्थरों का एक छोटा बंध बाँध कर ग्वाले छोटी मछलियों का शिकार करने में लगे थे। नदी में घुटनों तक भी पानी न होगा फिर भी उसमें जो स्वच्छता और शीतलता थी वह बरबस ही मन में ठंडक-सी भर देती। पहाड़ी टीलों पर छोटे-छोटे गांव बसे थे जिनके मकानों की ढालुआ छतें दूर से ही चमक रही थीं। अब दोपहर हो चली थी और प्रायः प्रत्येक घर में भोजन बनने लगा था जिससे एक सम्मिलित गन्ध सी चारों ओर महक रही थी; वह गंध जो प्रायः भोजन बनाते समय वातावरण में फैल जाती है। उन छोटे गाँवों में एक हल्का नीला धुआँ-सा छा गया था और प्रत्येक मकान में से धुएँ की एक रेखा उठती हुई व्योम में विलीन हो रही थी। ऊँची-नीची घाटियों पर क्यारी-नुमा छोटे-छोटे खेत दिखाई दे रहे थे। वे इतने छोटे थे कि दूर से देखने पर छोटी-छोटी प्लेटों के समान लगते। उनमें एक गहरी हरियाली थी और जब उन पर दृष्टि स्थिर हो जाती तो उस हरियाली के बीच काम करने वाली औरतें रंगीन वस्त्रों में ऐसी ही दिखाई देतीं मानों किसी हरे कालीन पर रंग-विरङ्गे फूल बने हों। वे सभी शायद अनाज के खेतों में जमी हुई निरर्थक घास को उखाड़ कर फैंक रही थीं। कहीं किसी खेत की सख्त जमीन पर किसान हल और बैलों के माध्यम से श्रमलीन थे और तब मन के भीतर से, पाषाणों के पास से एवं उस सुन्दर घाटी के अंग-अंग से एक ही आवाज-सी उठती सुनाई देती मानो वह आवाज हृदय में बैठ कर आलस्य को चुनौती देती हुई कह रही हो—उठो, श्रम करो, यों हाथ पर हाथ रख कर न बैठो। गिरो, गिर-गिर कर पुनः उठो और श्रम करो, यही मानव जीवन का सार है, यही मानव जीवन की सार्थकता है।

आगे एक हल्की सी चढ़ाई थी जिसे पार करने के उपरान्त हम चौखुटिया पहुँचने वाले थे। हम विश्राम करते, ठहरते उसी चढ़ाई को पार कर रहे थे। सुजाता ही हम सब में क्षीण थी अतः वह रुक-रुक

कर चलती। एक स्थान पर स्वच्छ जल का एक निर्मल सोता बह रहा था। उसके आस-पास सड़क के किनारे ऊँचे-नीचे चबूतरे से बने थे जो शायद इस आशय से बनाए गये थे कि ढलान से कोई नीचे न गिर पड़े- एक चबूतरे पर हम विश्राम के लिए बैठ गए। हैण्डबेग से दो बिस्कुट निकाल कर लछुआ समेत हम सब ने उन्हें पानी के साथ खाया। क्षण भर के लिए जैसे हमारी थकान उतर-सी गई। उसी स्थान पर एक दूसरे चबूतरे पर एक युवक जिसकी आयु लगभग पच्चीस वर्ष होगी बैठा विश्राम कर रहा था। वह हल्के नीले सूती कपड़े का सूट पहने था और पैरों में चमचमाते जूते, जिन पर मार्ग की धूल जम गई थी। युवक का रूप-रंग आकर्षक था और उसकी आँखों में कातरता-सी भरी हुई थी। उसके पास ही एक हैण्डबेग पड़ा था। जिसमें मात्रा से अधिक सामान भरा हुआ था। बेग के पास ही एक स्टेण्ड खोल कर रक्खा गया था और उसके साथ ही कैनवास लगा एक फ्रेम पड़ा था। वह सामने के सोते की ओर एकाग्र होकर देख रहा था। उसकी दृष्टि स्थिर थी।

युवक से परिचय करने की लालसा रोकने में असमर्थ होकर मैं स्वयं उसके पास चला गया। मैंने उसकी ओर हाथ बढ़ाते हुए मुस्करा कर कहा "आपका परिचय प्राप्त कर मुझे प्रसन्नता होगी।"

उत्तर में उसने हाथ न मिलाया। पूर्ण भारतीय ढंग से दोनों हाथ जोड़ कर एक धीमी मुस्कान के साथ कहा "मैं एक यात्री हूँ। मेरा कहीं घर नहीं, कहीं बसेरा नहीं, मुझे हरिदत्त कहते हैं।"

उसकी नपी तुली बात से मैं तो प्रभावित हुआ ही कुमार साहब और सुजाता ने भी उसकी ओर आश्चर्य की मुद्रा में देखा। वह अब आखों पर काला चश्मा चढ़ा चुका था, जिसे अब तक हाथ में लिए हुए था। मैंने उसकी बात के उत्तर में कहा—"बहुत खूब, पर यह तो अधूरा परिचय ही रहा।"

"हाँ"—वह बोला—"आज तक मैं स्वयं भी यह न जान पाया कि पूरा क्या है। जहाँ तक देख पाता हूँ—एक अपूर्णता-सी दिखाई पड़ती

है। यह जो लम्बे-लम्बे पेड़ दिखाई दे रहे हैं; मुझे न जाने क्यों अपूर्ण लगते हैं। क्या यह और भी ऊंचे नहीं हो सकते थे ? एक चित्रकार होने के नाते मैं आप से यह कह सकता हूँ कि अधूरे चित्र ही अधिक कलात्मक होते हैं। 'अधूरा' शब्द में ही एक बहुत बड़ी जिज्ञासा छिपी है और जिज्ञासा के मिट जाने पर कलाकृति का कलात्मक पक्ष भी मिट जाता है अतः जो सत्यं शिवं सुन्दरम् है वह स्वयं अधूरा है। हम अधूरे हैं—हमारा सृजन अधूरा है। यह नदी-पहाड़ देवदारु के वृक्ष सब अधूरे हैं। यह पूर्ण-होते तो जानते हैं क्या होता ? हमारे आगे बढ़ने की उत्सुकता ही समाप्त हो जाती और फिर पूर्णता से ऊब कर हम अधूरे-पन से ही प्रभावित होते।"

बात पूरी करके उसने अपनी दृष्टि एक ऊंचे से देवदारु के वृक्ष की शाखा पर टिका दी। जिस पर किसी पक्षी का घोंसला बना हुआ था। कुछ क्षण यों ही देखते रहने के उपरान्त उसने मेरी ओर घूम कर कहा—"क्षमा कीजिएगा, मैं आपके साथ शिष्ट व्यवहार न कर सका। परिचय पूछा था आपने और मैं मूर्खता की बातों में उलझ गया—" वह खिसयानी-सी हँसी के साथ बोला—"मैं इन्सान के बनाए हुए रंगों से कुदरती रंगों की तह में पहुँचने की चेष्टा करके अपना मनोरंजन करता हूँ। यह जो छटा आप यहाँ देख रहे हैं, मैं इसके अन्तर में पैठ कर इसकी प्रवृत्तियों का चित्रण करता हुआ यहां चला आया था।"

मैं ध्यान से उसकी बातों को सुनता जा रहा था। वह बातों के बीच-बीच में रुक कर हँस देता पुनः बात आरम्भ कर देता। उसने उसी प्रकार कहना जारी रक्खा—"मैं नासिक में पैदा हुआ था, विंध्याचल की रम्य घाटियों में पल कर बड़ा हुआ और तब से इसी प्रकार चला आ रहा हूँ।"

इसी बीच उसने सोने का सिगरेट केस निकाल कर एक सिगरेट जलाई और दूसरी मेरी ओर बढ़ाते हुए कहा—"मैंने कहा है न पूर्णता मैं कहीं नहीं देखता। यह बात कहाँ तक सत्य है इसका अनुमान

इसी से लगा सकते हैं कि मुझे आज तक इस बात का पता नहीं चला कि मेरे माँ-बाप कौन हैं। मैंने सुना है कि मेरे पैदा होते ही मेरी मां मुझे एक गिर्जे के बाहर रख कर चली गई थी और उसके बाद एक ईसाई महिला ने मेरा पालन-पोषण किया। मेरा नाम भी रोनाल्डसन रक्खा गया किन्तु उस वातावरण से दूर चले जाने के बाद मैंने स्वयं ही अपना नाम हरिदत्त रख लिया।"

यहाँ आकर वह रुक गया और उसने मेरी ओर देखा। एक साँस छोड़ते हुए मैंने कहा—"आप एक चित्रकार हैं यह जान कर खुशी हुई।"

"और यह जान कर दुख नहीं हुआ कि मैं वर्ण संकर हूँ ?"—वह हँसा।

"यह कोई बड़ी बात नहीं, जिस पर दुःख प्रकट किया जा सके"—मैंने उत्तर देते हुए कहा—"जाति, वर्ग, गोत्र और कुलों के बन्धन मनुष्य को संसार में आने के बाद दिखाई देते हैं। इन सब छोटी-छोटी बातों पर अपने आपको हेय समझना मन की दुर्बलता का द्योतक है।"

तभी लछुआ ने बोझ उठाया और वह चल पड़ा। कुमार साहब और सुजाता भी उठ आए। जहाँ हम दोनों बैठे थे वहाँ आकर वे कुछ ठिठक गए। मैंने अपने नए साथी का परिचय देते हुए कहा—"आप हैं हमारे साथी हरिदत्त ! आप चित्रकार हैं !" और फिर कुमार साहब की ओर संकेत कर कहा—"और आप हैं कर्नल कुमार ! मेरे बीहड़ों के वयोवृद्ध निर्देशक।···आप इन्हीं की पुत्री सुजाता है।"

उसने दोनों को हाथ जोड़ कर अभिवादन किया। कुमार साहब और सुजाता द्वारा भी अभिवादन का उत्तर देने पर हरिदत्त ने कहा—"और आपका परिचय ?"

मुझे हँसी आ गई। अपना परिचय मैं क्या कह कर दूं। कोई भी तो विशेषता मुझ में है नहीं। तभी कुमार साहब बोल पड़े—"आप हैं इन जंगलों के क्या कहना चाहिए···एक···एक अजीब से राही। इन जंगलों

में भटक कर ही रूहानी तरक्की करना आपकी 'हाबी' है। वैसे आपका नाम कुमारेश है।"

"खूब!"—उसने उल्लास के स्वर में कहा और हमें चलने को उद्यत देख उसने भी अपना सामान संभाल लिया। स्टैण्ड को हाथ में लेते हुए, चलने को उद्यत होकर वह बोला—"क्या मैं जान सकूँगा कि यह छोटा-सा काफिला किस ओर गुजर रहा है ?"

सुजाता ने एक बार उसकी ओर कनखियों से देखा। मानो वह एक चौराहे पर खड़ी हो। तत्क्षण ही उसने पलकें झुका लीं और वह पूर्ववत् चलने लगी।

हरिदत्त की बात का मैंने उत्तर दिया—"रुकने वाला काफिला यह नहीं है—बढ़ता ही जायगा, जब तक इसमें जीवन है !"

उसने विस्मय के साथ हम सबकी ओर देखा। तभी मैंने पूछ डाला—"आपका साथ कहां तक रहेगा, यह जानने की उत्कण्ठा है !"

"मुझे खेद है" उसने कहा "मैं आपका अधिक साथ न दे सकूँगा।"

"क्यों ?"—मैंने पूछा।

"यहाँ से कुछ मील दूर एक गांव है"—उसने कहा—"वहीं एक बंगले में मेरी ईसाई माँ, जिसने मुझे पाला था अपनी लड़की मेरी एण्डर्सन के साथ रहती है। आज मेरी की वर्षगांठ है।" कुछ ठहर कर मुख पर स्नेह भरे भाव लाते हुए उसने पुनः कहा—"धर्म से मुझे क्या लेना। जिसने मुझे पाल-पोस कर बड़ा कर दिया उसे मैं कैसे भुला सकता हूँ।......और मेरी, कुछ भी हो वही मेरी एकमात्र बहन है। उसे मैं बहुत प्यार करता हूँ। हर साल उसकी सालगिरह के दिन मैं उससे मिलने जरूर आता हूँ। वर्ष भर में अपने चित्रों से जितना अर्जन करता हूँ उसका आधा मैं मेरी की सालगिरह पर खर्च कर देता हूँ। हालांकि मेरी ईसाई माँ के कई फलों के बाग यहाँ पर हैं और वह काफी धनवान भी हैं—लेकिन यह भावना का प्रश्न है। साल भर के लोग उंगलियों पर दिन गिन कर मेरे आने का इन्तजार करते हैं और

जब मैं जाता हूँ तब मेरी मुझे भारतीय ढंग से ही अभिवादन करती हैं। मैं उसे अपनी लाई कोई चीज देता हूँ तो वह बच्चों के समान मुझे देखने लगती है। तब मैं उसकी साल-गिरह का केक काटता हूँ। यह प्रत्येक वर्ष की सोलहवीं अप्रैल को बिना नागा होता है। मैं संसार के किसी भी कोने में रहूँ—एक बार सोलहवीं अप्रैल को वहाँ अवश्य पहुँचता हूँ। जैसे सूर्यास्त के बाद सूर्योदय एक शाश्वत परम्परा है उसी प्रकार उन्हें यह विश्वास रहता है कि दुनियां इधर से उधर हो जाए— मैं आऊंगा जरूर।"

हमने उसकी बातें सुनीं। उससे प्रभावित होकर उत्तर में मैं बोला "आपके जीवन का उद्देश्य स्तुत्य है। हम आपसे मिलकर बहुत प्रसन्न हुए।"

कुमार साहब ने उसकी पीठ ठोंक कर कहा—"बहुत अच्छे!"

आगे से एक राह फलों के बगीचे की ओर मुड़ रही थी और दूसरी चौखुटिया की ओर। हम तीनों को अभिवादन कर वह उस छोटी सी राह पर हो लिया जो दूर से देखने पर टेढ़ी-मेढ़ी और सुन्दर लगती हुई एक उन्नत शिखर में विलीन हो जाती थी।

उसने दूर से पीछे मुड़ कर हाथ हिलाते हुए कहा—"अलविदा! अलविदा!!"

हम सभी ने उसी प्रकार हाथ हिलाते हुए प्रत्युत्तर दिया—"अलविदा! दोस्त—अलविदा!!"

सात

चौखुटिया में हम लोग कुछ घण्टे ही ठहरे। वहाँ देखने योग्य कोई विशेष चीज भी न थी। एक प्रकार से वह आड़ू, सेव, नाशपाती एवं खुबानियों की मण्डी थी। इसके आस-पास कई साहूकारों के बगीचे थे और यहाँ से समतलीय प्रदेशों के लिए माल बुक होता था।

और कुछ हो न हो किन्तु राम गंगा के किनारे पर बसा यह छोटा-सा कस्बा दर्शकों का मन मोह लेता है। यहाँ के छोटे से बाजार में विभिन्न प्रकार के ताजे फलों की सुगन्धि वातावरण में एक मोहकता-सी बिखेर देती है।

रामगंगा का विस्तार यहाँ अधिक नहीं है। बड़े-बड़े शिलाखण्डों को चीरती सरसराती हुई जब यह आगे बढ़ती है तो इसके तटीय मार्ग पर चलने वाले यात्री एक चिर शान्ति का अनुभव करते हैं। कहीं कहीं यह नदी टेढ़ी-मेढ़ी होकर इस प्रकार घूमी है—जिसे देख कर लगता है कि किसी चित्रकार ने हरे मखमल पर चाँदी के तारों द्वारा कोई रेखाचित्र बनाया है। कहीं इसकी चौड़ाई एक नाले के समान कम हो जाती है और कहीं इसके विस्तृत रूप को देख आश्चर्य होता है। उसके किनारे-किनारे चौखुटिया से हमारा मार्ग चला और जौरासी नामक एक छोटी-सी वस्ती में लकड़ी के पुल से हमने रामगंगा को पार किया।

वह पुल दो चट्टानों के बीच में जोड़ मिला कर बनाया गया था। उसके ऊपर खड़े होकर नीचे देखते हुए नदी का दृश्य और भी सुन्दर लगा। पुल तारों के बने रस्सों में लकड़ी के तख्ते बिछा कर तैयार किया गया था। एक यात्री के चलने से भी वह बुरी तरह हिल उठता था। सुजाता कुछ देर के लिए उस पुल के बीच में ठहर गई। उसने एक

बार पुल के बीच से नीचे की ओर झांका। मैं उसके साथ था। मुझे निकट देख कर उसने कहा–"काश कि जीवन के अन्तिम क्षण यहीं बीत जाते।"

"आप अभी से चिन्ता क्यों करती हैं, अभी तो जीवन का प्रथम चरण है।" मैं बोला।

"आप भी हँसी उड़ाने पर तुले हुए हैं"–वह हँसते हुए बोली।

"इसे आप हँसी न समझें,"—मैंने कहा—"यह जीवन का सत्य है।"

"सभी कुछ तो जीवन का सत्य है"—वह बोली—"आखिर हँसना गाना, रोना, मरना, जीना क्या यह जीवन का सत्य नहीं हैं ?"

"हाँ यह सभी सत्य है"—मैंने स्वीकृति दी।

"कभी-कभी मन में एक उफान सा उठता है।"—अपनी गहरी जामुनी आखों में गम्भीरता का भाव लाते हुए उसने कहा—"जहाँ की सुन्दरता मन मोह लेती है—वहाँ आत्महत्या करने को भला क्यों जी करने लगता है ? मैंने जापान के एक प्राकृतिक स्थान के बारे में सुना है कि प्रत्येक वर्ष वहाँ सैकड़ों व्यक्ति केवल आत्महत्या करने के लिए जाते हैं और सुना है—वहां का सौंदर्य देख कर प्रत्येक व्यक्ति आत्महत्या कर लेना चाहता है। ऐसा क्यों हो जाता है भला ?"

मैंने उत्तर में कहा—"यह आपके मन की दुर्बलता है इसे दूर करें।"

"अब क्या दूर करूँगी इसे। केवल कुछ महीने की बात है। फिर स्वयं ही सब समाप्त हो जायेगा।"

उसकी बात से मुझे गहरी ठेस लगी। मैं बोला "मैं कुछ शान्ति पाने की लालसा से आपके साथ चला था। पर सोचता हूँ आप मुझे और भी अशान्त करके छोड़ेंगी। क्या आप चाहती हैं कि मैं अपनी मंजिल अलग कर दूँ ?"

"नहीं नहीं"—वह बोली—"ऐसी बात भी अब मुँह से न निकालें कृपा करके—अब मैं कुछ नहीं कहूँगी।"

मैंने उसे सहारा दिया और हम धीरे-धीरे आगे बढ़े। सामने जौरास पर्वत-खला दिखाई दे रही थी और उसी पर हमें चढ़ना था।

झूले का पुल पार कर हम कुछ देर के लिए ठहर गए। देखा लछुवा ने सामने बोझ रख दिया है और वह कुमार साहब के साथ नीचे नदी के पास खड़ा है। वहाँ पच्चीस-तीस आदमी जमा थे जो राम गंगा के एक गहरे खाल में कोई चीज ढूँढ रहे थे। कुछ ऊँचाई पर दस-पांच पर्वतीय बालाएँ भी खड़ी थीं। जिनमें कुछ नव-विवाहिता थीं, कुछ अधेड़। कुछ के घूँघट में से नथ चमक रही थी। उनकी चिन्तातुर आँखें नदी के जल की ओर थीं।

हम पास गए तो एक ठण्डी साँस खींच कर कुमार साहब ने कहा, "बेचारी एक औरत डूब मरी है। उसी को निकाल रहे हैं।"

"क्यों डैडी ? क्यों डूब मरी ?" सुजाता ने अधीर होकर पूछा।

"कहते हैं, उसकी सास ने उसके साथ दुर्व्यवहार किया था।"

एक वृद्धा खूब जोर से चींखें मार कर सिर पीट रही थी। बीच-बीच में कुछ कहती भी जाती। किसी ने फुसफुसाहट के स्वर में कहा, "यह गोदावरी की मां हैं ! बेचारी !!"

हम सब उस ओर देखने लगे। नदी के बीच में एक गहरा कुण्ड था जिसके चारों ओर लोग खड़े थे। एक सफेद कपड़े में लिपटी किसी की लाश का थोड़ा-सा भाग पानी में डूब-उतरा रहा था।

तभी धोती बांधे एक व्यक्ति पानी में उतरा और उस शव को कन्धे पर उठा कर किनारे की ओर बढ़ने लगा। मृत युवती के केश बिखर गए थे और उनमें से पानी चू रहा था। वे उस व्यक्ति की पीठ पर चिपक-से गए थे। उसके मुख का भाग नीचे की ओर होने के कारण स्पष्ट दिखाई नहीं दे रहा था, फिर भी उसका गौर वर्ण साफ चमक रहा था।

क्षण भर में वह शव को लेकर ऊपर आ गया और उसे एक सूखे स्थान पर चित्त लिटा दिया। युवती के पैरों में चांदी के गहने थे और

चूड़ियां अभी हाथों में ही थीं। चूड़ियों के साथ ही उसने हाथों में बड़े-बड़े कड़े पहन रखे थे और नाक पर अब भी एक छोटी-सी नथ चमक रही थी। उसके मुख पर एक मासूम वेदना का भाव था। किन्तु माथे पर एक गौरवपूर्ण आत्म सम्मान ! उसके दोनों ओंठ एक दूसरे से सटे थे, और मृत होने पर भी उसे देखने से लगता था कि जैसे वह गहन निद्रा में सो रही है, और अभी जाग जायेगी।

हम सबके मन भारी थे, सुजाता की तो आँखें प्लावित भी हो गई थीं। आखिर वह स्वयं भी नारी थी और नारी भी ऐसी जिसमें दुःख डूब कर रह गये थे।

हम चारों गर्दन झुकाए आगे बढ़ गए थे। हमारे साथ एक गढ़-वाली मजदूर भी हो गया। वह सिर पर डलिया रक्खे हुए था—जिसमें ताजे फल भरे थे। उसने मोटे कपड़े का एक चूड़ीदार पाजामा और जीन का कोट पहन रखा था। वह नंगे पैर चल रहा था। कुमार साहब ने उससे पूछा, "किधर जाओगे भाई ?"

"दे घाट सरकार।" वह बोला।

"वहां क्या करते हो ?"

"हुजूर मैं माली हूँ।" उसने अपनी क्षीण वाणी में कहा "यहीं जान्सन साहब के बगीचे का। दे घाट में साहब का बंगला है। फल लेकर जा रहा हूँ।"

"क्या नाम है ?"

"लाल सिंह"

"कहाँ के रहने वाले हो ?"

"गढ़वाल का, जी।"

कुमार साहब के चुप हो जाने पर मैंने लालसिंह से पूछा, "यह औरत क्यों डूब गई—मालूम है कुछ ?"

"हमारे पहाड़ में साहब" उसने उत्तर देते हुए कहा "बड़ी गरीबी है। सास-बहू के झगड़े होते रहते हैं। यह तो रोज की ही बात

है साहब ।"

काफी देर तक उसी बात पर चर्चा होती रही। मन ने चाहा कि कुछ ऐसा प्रसंग चले जिसमें भाव सजीव हो उठें। मैंने बात का रुख पलटते हुए कहा "अच्छा लालसिंह! क्या तुम गाना भी जानते हो?"

वह हँसा "हम कुपढ़ क्या गायेंगे भला?"

"कोई अपने गांव का गीत ही सुनाओ!"

उसने कान से बीड़ी निकाल कर जलाई, गला साफ किया, फिर एक ऊँची तान ली—आ..ऽ ऽ...आ ऽ ऽ ऽ......आ......

सुपी भरे ले लैण
मायास्वरी देवेस्वरी दूई छन बैण
जाँदुरी रुणाई,
गाड़ पड़न जौंला दीदी, कैम न सुणाई
कोठारी का खाना
गाड़ पड़न जौंला दीदी—घास का बांना
कागज का तऊ
गाड़ पड़ी गैन दुई बैणी तिल पाड़ा रऊ
कूटला की कूटी
औतू-औतू रींगे दीदी बेन्दी ना फूटी
तामा की खाण
औतू-ओतू रींगे दीदी लय्यो क्रो डस्याण
हिंसरी का गोंदा
गाड़ में बगद रै है गज को फोंदा
पाणी की पतूली
बाँधी की बाँधी रैगी मां की धौंपेली
गंगा छाला सूंचणी दीदी सोना की नथूली
भीमल की छट्टी
सासू की गाली सुणी जिकुड़ी है खट्टी

पीनी त सराप
और कनी होन्दा दीदी मैंश च खराप
मसेटो मेवाई
बाबा की मैं बैरी, कुघरू वेवाई ।

गीत का अर्थ मैं स्पष्ट समझ न सका। वैसे वह मुझे बहुत कर्ण-प्रिय और मार्मिक लगा। पूछने पर लालसिंह ने मुझे इसका भावार्थ बताया—

* देवेश्वरी महेश्वरी दोनों बहिनें हैं। एक ही घर में ब्याही हैं, सास और पति के अत्याचारों से दुःखी होकर वे सलाह करती हैं—

* बहन नदी में डूबने चलेंगे, किसी को न बताना ।

* हम घास लाने का बहाना कर नदी में डूब मरेंगी ।

* और तब वे दोनों बहनें तिलपाड़ा के तालाब में डूब मरीं ।

* हाय ! तेरी लाश भंवर-भंवर में घूमती रही—पर तेरे माथे की बिंदिया अछूती पड़ी है ।

* तेरी लटों का बिछौना (गुच्छा) भी भंवरों में घूमता रहा । तेरी ढाई हाथ लम्बी चोटी जल में तैरती रही ।

गीत के समाप्त होने पर लालसिंह ने मेरी ओर देखा। शायद वह इस आशा से मुझे देख रहा था कि मैं उसके गीत की प्रशंसा करूँ ।

"तुम्हारा गीत मुझे बहुत अच्छा लगा लालसिंह !" मैंने अपने मन की वास्तविकता को प्रगट करते हुए कहा ।

कुमार साहब भी अपनी राय देते हुए बोले—"हमने शहरों में बड़े बड़े साजों के साथ गाए जाने वाले गीत भी सुने हैं लेकिन लालसिंह तुम्हारे गीत में एक अजीब-सा दर्द है ।"

सुजाता ने मौन रह कर हमारे पक्ष में ही सहमति प्रकट की और तब लालसिंह ने शिष्टाचार के नाते कहा—"साहब हम क्या गाना-वाना जानें। बस जरा जी बहलाने के लिए कभी-कभार गा लिया करते हैं ।"

बात-चीत करते हुए हम दे घाट पहुँच गए। सांवरी सन्ध्या अपने

करुणिम आँचल में उदास-सी झाँक रही थी। लेकिन वह उदासी भी मुझे अच्छी लगी। पक्षीगण उस मनोरम स्थान को और भी अधिक सुन्दर बना रहे थे। दिन भर स्वतन्त्र रूप से जंगलों में विहार करने के पश्चात् पशु अपने बसेरों को लौट रहे थे। लगभग पचास मकानों की इस छोटी-सी बस्ती में शंख और घण्टों का स्वर गूँज उठा। नीचे राम गंगा की नील धारा वेग से बह रही थी। उसके इस वेग को देख कर मेरे प्राणों में कम्पन-सा दौड़ गया। मकानों में टिमटिमाते हुए दियों की क्षीण-सी प्रतिच्छाया उसकी उत्तुङ्ग लहरों में मिलकर एक मोहक दृश्य बना रही थी। पर्वतों की चोटियों के सिवा शेष सम्पूर्ण क्षेत्र ने तम की काली चादर-सी ओढ़ ली थी, लगता था जैसे सारी प्रकृति निद्रा में लीन हो जाना चाहती है।

दे घाट में एक और झूले का पुर पाल करते हुए हममें से किसी ने भी नीचे झाँकने का साहस न किया। पुल पार करने पर लालसिंह हम सभी को अभिवादन कर अपने साहब के बंगले की ओर मुड़ गया, जो अत्यधिक चमक के कारण बस्ती में अपनी सत्ता ऊंची किये खड़ा था।

हम बस्ती के बाज़ार की एक छोटी सी दुकान पर ठहर गए। वहां हमें भोजन का सामान और ईंधन मिल गया। बने बनाए भोजन का समय अब समाप्त हो गया था और अब आगे मार्ग में आने वाली इस कठिनाई को हल करने के लिए हमें अभी से स्वयं भोजन बनाने में अभ्यस्त होना था। अतः सारा सामान और बर्तन आदि लेकर भोजन बनाने की तैयारी की जाने लगी। साग-भाजी में केवल आलू ही प्राप्त हो सके थे। लछुआ दूर बैठ गया—वह स्वयं ही अपने आपको अछूत समझता था। मैंने उसे पास बुलाते हुए कहा—"क्यों लछुआ, वहाँ क्यों बैठ गया रे? भाई अब तो सभी को साझेदारी में साझा करना होगा।"

उसने मेरे मुँह की ओर आश्चर्य से देखा। उसका आशय समझते

हुए मैंने कहा—"लछुआ ले आटा गूंथ।"

"लेकिन बाबू जी······आप मेरे हाथ का।"

उसकी बात काटते हुए मैं बोला—"क्यों रे क्या तेरे हाथों में किसी दूसरे रंग का खून बहता है ?—चल उठ।"

वह अपने हाथ धोने बैठ गया।

"नारी स्वभाव से ही कोमल होती है। अतः आपके लिए यह काम ठीक रहेगा।" आलू और चाकू उसकी ओर बढ़ाते हुए मैंने सुजाता से कहा।

हँसते हुए वह बोली—"यह कोई आसान काम तो नहीं है, इन निर्दोष आलुओं के गले पर क्या मुझे ही छुरी चलानी होगी ?"

कर्नल साहब हँस पड़े—"भई कोई बन्दूक का काम हो तो मुझे भी कहना।"

मैंने हँसी के बीच ही उनकी बात का उत्तर देते हुए कहा "आप केवल सेना पर कमाण्ड कीजिए—बस !"

इस पर एक जोरदार ठहाका लगा। लछुआ भी इस हँसी से अछूता न रहा, लेकिन यह बात उसकी समझ में न आई कि इस हँसी का कारण क्या है।

किसी प्रकार भोजन बनाने का कार्य समाप्त हुआ तो दे घाट के प्राकृतिक सौन्दर्य को देखने का लोभ हम संवरण न कर सके। यद्यपि अन्धकार काफी छा गया था किन्तु रामगंगा के प्रवाह की गंभीर ध्वनि एक हृदयग्राही वातावरण की सृष्टि कर रही थी। अतः भोजन ढंक कर रख देने के पश्चात हल्की सी चाय पीकर सुजाता को साथ लेकर मैं और कुमार साहब बाहर निकल गए। लछुवा को घर की रखवाली के लिए वहीं छोड़ दिया गया। दे घाट के छोटे से बाजार को देखते हुए हम आगे बढ़े। वहां की प्रत्येक दुकान में हमने चाय की भट्टी देखी। प्रायः दुकानों पर पाँच-सात व्यक्तियों को अंगीठी के सहारे बैठे चिलम पीते या बातें करते देखा। कहीं कहीं कुछ लोग समूहबद्ध होकर मैदान

में रोटियाँ सेंकते दिखाई पड़ जाते जो सम्भवत: पर्वतों पर माल ढोने वाले टट्टुओं के मालिक थे।

कच्ची सड़क की ओर वढ़ते हुए हम फलों के बगीचों की तरफ निकल गये। कुमार साहब दिन भर की यात्रा से ऊब-से गये थे। इसी कारण उन्होंने मुझसे पूछा—"सारे दिन पैदल चल कर भी आपका यह शौक अभी पूरा नहीं हुआ क्या ?"

"यात्रा और वायु विहार में अन्तर है कुमार साहब, लगता है आप थक गये हैं" मैंने कहा।

"हाँ भई मैं तो अब लौट कर डेरे पर जाना पसंद करूंगा। तुम लोग जितना चाहो घूम सकते हो।"

मैंने उनकी बात सुन कर सुजाता की ओर दृष्टि फेरते हुए पूछा—"आप भी शायद·········?"

"नहीं," उसने मेरी बात पूरी होने से पहले कहा "मैं अभी घूमूंगी।"

कुमार साहब वहीं से लौट गए। जाती बार हँसते हुए इतना कहने से वह न चूके "भई तुम लोग टहलते-टहलते कहीं आगे का सफ़र शुरू न कर देना।"

मैं हँस पड़ा और हँसी में ही मैंने कहा—"आप चिन्ता न करें। इंजिन के बिना डिब्बे क्या खाकर चलेंगे ?"

उनके चले जाने पर हम दोनों आगे बढ़ गए। काफी देर तक हम मौन रहे किन्तु दोनों के मन में ही बात का क्रम जोड़ने की लालसा बनी रही। इसे मनुष्य की दुर्बलता कहा जाय या और कुछ पर नारी का नैकट्य प्राप्त करने एवं एकांत वातावरण के बीच समवयस्क नर और नारी के अन्तस में स्वयमेव ही यह कुतूहल जागे विना नहीं रहता। यदि उनमें झिझक हो तब यह कुतूहल एक वेगवती नदी का रूप धारण कर लेता है। कुछ ऐसा ही मैं स्वयं में अनुभव कर रहा था, इसके बाद भी कोई बात मेरे मुंह से न निकली।

तब सुजाता को ही मुँह खोलना पड़ा। वह मेरे निकट होकर

बोली—"क्या किसी की याद कर रहे हैं?"

अकस्मात ही मेरे मुँह से निकल गया—"हाँ!"

"किस की?"—उसने मुझे संभलने का भी अवसर न देते हुए पूछा। अब मैं क्या उत्तर देता? क्या सचमुच ही बात करना ठीक होगा। कुछ सोचता-सा मैं बोला—"आप ही की अगर मैं कहूँ तब?"

"मेरी?"—उसने आश्चर्य-सा प्रकट करते हुए कहा, फिर स्वयं ही अपने प्रति उपेक्षा-सी जताती हुई वह बोली—"मैं ऐसी भाग्यवान कहाँ? मुझ जीवित लाश की याद भला कौन करेगा। क्या है ऐसा मुझ में?"

वह इस प्रकार बह जायगी इसका रंचमात्र भी ध्यान मुझे न था। उसकी बात का उत्तर देते हुए मैंने कहा—"शरीर में मांस और चर्बी की बहुतायत हो तभी सब कुछ होना नहीं कहा जा सकता। आप में बहुत कुछ है—बहुत कुछ।"

"क्या है भला—जरा सुनूँ तो?"

"हृदय!" मैंने छूटते ही कहा "हृदय है आपके पास।"

एक फीकी-सी हँसी उसके अधरों पर आई—अँधेरे में वह हँसी देख पाने में मैं भले ही समर्थ नहीं हुआ किन्तु उसकी आवाज़ सुन कर ही मैंने अनुमान लगा लिया। वह उसी प्रकार बोली—"आकर्षण आत्मा का आत्मा से होता है—ऐसा ही मैं नहीं मान सकूंगी। सर्वप्रथम आकर्षण शरीर की बनावट से होता है। भले ही बाद में वह आत्मिक रूप धारण कर ले। मुझमें कुछ भी ऐसा शेष नहीं रहा। कुछ भी तो नहीं।" उसने जब अपने शब्द पूरे किए तब उसका स्वर भारी लगता था। उसने फिर कहा—"काश! मैंने संसार को देखा ही न होता।"

मैं इस बात के लिए स्वयं को दोष दिए बिना नहीं रह सकता कि किसी की आत्मा का बर्फ़ के समान पिघल जाना मुझे सह्य नहीं होता। ऐसे समय में मेरी समस्त दृढ़ता कहीं तिरोहित हो जाती है। सुजाता के अन्तिम वाक्यों ने मुझे विचलित-सा कर दिया। मेरी आँखों के आगे एलक्सान्देर दूयूमा के एक उपन्यास की पात्री मार्गरीत गोतिये का

चित्र नाच गया। जीवन के अन्तिम दिनों में कितनी इच्छाओं का उसे बलिदान देना पड़ा। कितनी शक्ति, कितना धैर्य और कितना त्याग था उसके जीवन में। मुझे लगा जैसे वह मार्गरीत गोतिये हो। मैंने भावोद्वेग में उसकी पीठ पर हाथ रख दिया। तब मेरा संपूर्ण शरीर एक पत्ते की भाँति काँप रहा था। मैंने उससे कहा—"पागल! ऐसी बातें न करो।"

मेरे इस स्नेह-स्पर्श ने मानो उसकी समस्त शिराओं में झंकार भर दी। वह मेरे पास होती हुई मार्ग के बीच में ही मेरे वक्ष से सट गई और बच्चों के समान फफक कर रो पड़ी। लगता था जैसे उसे इस प्रकार रोने से आत्मिक शान्ति मिल रही हो। मैंने कुछ क्षण उसे रोने दिया और जब वह काफी रो चुकी तब उसे शान्त करते हुए कहा—"बस, अब अपने वह वचन याद करो, जो द्वाराहाट में दिये थे।"

हिचकियों के बीच उसने कहा—"मुझे भी एक वचन दो। नहीं तो मुझ में इतना साहस न रहेगा कि मैं अपनी इस बात पर अटल रह सकूँ।"

मैंने उसका हाथ थामते हुए कहा—"देखो जब दो प्राणी एक दूसरे के निकट आ जाते हैं तब शिष्टाचार के सम्बोधनों का क्रम भंग हो जाता है। आज मैंने तुम्हें 'तुम' कह कर वह क्रम तोड़ दिया। इस समय हम एक दूसरे के बहुत पास हैं। एकाएक किसी ज्वार के झोंके ने हमें इतने निकट ला दिया है। किन्तु हमें यह सदा ध्यान रखना चाहिए कि हम अपनी सीमा के बाहर पैर न रक्खें। संसार में कोई मर्यादा, कोई बन्धन मैं नहीं मानता किन्तु साधारण प्रकृति के लोगों के समान आत्मा के बन्धन तोड़कर रहना मेरे सिद्धान्तों के विपरीत है। ऐसा ही सोचकर जो वचन चाहो मांग लो। लोग प्रकाश को साक्षी बनाते हैं किन्तु मैं इस अन्धकार को साक्षी बना कर कहता हूँ कि अपने वचन का पालन करूंगा।"

सुजाता मेरी ओर स्तब्ध देखती रही। उस अन्धकार में भी ऐसा

लगा जैसे हम दोनों एक दूसरे की आकृतियों को स्पष्ट देख पा रहे हों। उसने एक क्षण बाद चुप्पी भंग करते हुए भरे कण्ठस्वर से कहा— "एक न एक दिन मुझे जाना ही है, किन्तु एक साथ लिए चली जाती तो न जाने आत्मा को कब शान्ति मिलती। अतः यही मांगती हूँ कि जब तक जीवित हूँ तब तक मुझ से दूर न रहोगे। मैं एक मातृ-हीना नारी हूँ। मुझे और कुछ नहीं चाहिए। केवल एक छाया चाहिए, जो सदैव मेरी आत्मा को शीतलता देती रहे। नारी स्वयं अपने मुंह से ऐसी बात कहे यह अशोभनीय अवश्य है, किन्तु वह भी तो हृदय रखती है न, इस दृष्टि से क्षमा की पात्र है।"

मैंने उसका हाथ छोड़ दिया था और अब हम सड़क के किनारे एक बड़े से शिलाखंड का आधार लिये खड़े थे। मैंने उसकी बात के उत्तर में कहा "तुम्हें मेरी छाँह यथा-सम्भव मिलती रहेगी, किन्तु किसी परिधि में रह कर नहीं। मैं संसार के प्रत्येक जीव से, प्रत्येक प्राणी से यहाँ तक कि जो जड़ है उससे भी प्यार करता हूँ। मुझे दूसरों के लिये जीने में आनन्द आता है किन्तु आज तक कोई भी मुझे बांध नहीं सका है। मैं नहीं जान पाया कि मेरे जैसे आदमी का क्या लाभ किसी को होगा। फिर भी मैं यही सोच कर चलता हूँ कि सब मेरे लिए हैं, मेरे हैं। सबका भला हो। आज से तुम मेरे हृदय के उच्च सिंहासन पर अपना स्थान बना चुकी हो। किन्तु ध्यान रखना, तुम्हारा उत्तरदायित्व अब और बढ़ गया है।"

मेरी बात सुन कर वह नीचे को झुक गई और उसने मेरे पैर छू लिए। यह मुझे बुरा अवश्य लगा किन्तु भावनाएं प्रत्येक की आदरणीय हैं, यह जान कर उसे मैंने उठा लिया।

वहां से जब हम दोनों चले तो इसी प्रकार शान्त थे मानों हमने अपने बोझ नदी में बहा दिए हों। साथ ही एक स्फूर्ति-सी हमारे अंगों में भर गई थी। पीछे से तेज आँधी आने से जैसे मनुष्य अपने आप को हल्का-सा अनुभव करता है उसी प्रकार हम दोनों उड़े-से जा रहे थे।

आठ

हमारी यात्रा उसी प्रकार रुकते-थमते चलती रही। कभी ऊँचे नीचे ऊबड़-खाबड़ मार्ग आते, कभी शीतल हरीतिमामय प्रदेशों से होते हुए मार्ग को निर्बाध गति से चीरते हुए हम बढ़ते जाते। इस बीच कभी तूफानों से हमें जूझना पड़ा, कभी मार्ग की दुर्गमताओं ने हमारे पैरों की गति में अवरोध उत्पन्न किया और कभी जीवन की निस्सारता ने हमें निराशा की ओर अभिमुख करने की चेष्टा की, किन्तु काँटों में बिखरी हुई टीस को हमने वरण किया, दुःखों की अनुभूतियों को बटोरा और यह धारणा वनाकर हम अपने कदम बढ़ाते गए कि दुःखों का अनुभव कर सुख का मर्म पहचानो, बोओ और काटो—बिना दुःख उठाये सच्चे सुख की आशा करना ऐसा ही है जैसे विना बीज बोये फसल काटने की कल्पना!

हमारी यात्रा जव से प्रारम्भ हुई थी तव से अब तक कितना समय व्यतीत हो चुका, इसका विवरण मुझे याद नहीं है किन्तु देघाट से रामगंगा के किनारे-किनारे बुंगाधार से होते हुए विनसर नगर और विनसर मंदिर होते हुए हम आज गढ़वाल के प्राचीन वैभवशाली नगर कोटद्वार में हैं। विनसर से आगे बढ़ने पर विनौ नदी की पतली सी नीलधारा का सहारा लिये किस प्रकार मार्ग भटक कर हम कोटद्वार तक पहुँचने में सफल हो सके यह एक लम्बी कहानी है। आज कोटद्वार में विश्राम पाकर हम उन कटु अनुभवों की याद भुला देने की चेष्टा कर रहे हैं।

गढ़वाली राजाओं की इस पूर्वातन वैभव शाली नगरी का वर्त्तमान रूप पूर्णतः बदल चुका है। सभी प्रकार की सुविधाएँ यहाँ अब हो गई हैं; स्कूल कालेज, कचहरी, अस्पताल, डाक-तार घर एवं डाकबंगले सभी कुछ

यहाँ हैं।

दूर से एक पर्वतीय उपत्यका में बसी यह भव्य नगरी ऐसी ही लगती हैं जैसे हरी-भरी घास पर तितलियों का झुण्ड बैठा हो। उसके छोटे किन्तु सुन्दर मकान दूर से चमक उठते है और काफी दिनों के बाद एक सुन्दर बस्ती के आगमन की आशा से यात्री के क्लान्त पैरों मे एक हरकत-सी पैदा हो जाती है। वह दौड़कर वहां पहुच जाना चाहता है।

यहाँ पहुँचते-पहुँचते सुजाता की हालत बहुत ही चिन्तनीय हो गई थी। क्षरण-क्षरण पश्चात सीने में दर्द के कारण वह कराह उठती और तब ढेर सारा काला रक्त उसके कैन्सर के फोड़े से रिस कर मुँह की राह बाहर आ गिरता। वह अचेत हो जाती, मेरा और कुमार साहब का धैर्य छूट जाता। हम सोचने लगते अब यात्रा को विराम देना होगा। किन्तु चेत आने पर सुजाता अपनी जड़वत पलकों को ऊपर उठाती। उसकी नीली और जामुनी रंग की पुतलियों में एक पीडित संघर्ष तैर आता। वह एक बेजान सी आवाज में कहती-—"नहीं-नहीं। हम आगे बढ़ेंगे। हम अपनी मंजिल को छुएंगे डैडी ! हम आगे बढ़ेंगे।"

और फिर आशा और विश्वास के सहारे धैर्य की पतवार छोड़ हम आगे बढ़ जाते। हमारे हृदय एक विद्युतमयी उमंग से भर जाते और हमारे डग मानो हमें उड़ा ले जाते।

कोटद्वार का डाकबंगला एक हरी भरी-घाटी के बीच में स्थित है। उसके चारों ओर गुलदावरी और टेसू के फूल खिले हैं सूर्यमुखी के तने-दार पौधों के ऊपर खिले बड़े-बड़े फूलों से डाली झुकी-झुकी लगती हैं। चीड़ के पेड़ों की चारों ओर कतार लगी है और उनकी पंख सदृश डालियों से साँय-साँय की ध्वनि करती भीनी-सी हवा बह रही है।

ऐसी हरी-भरी घाटी के बीच डाकबँगला ऐसे ही लगता है जैसे किसी उद्यान के बीच कोई सुन्दर-सा भवन बना हो। एक छोटी सी चहारदिवारी के बाहर पत्थरों की कुछ बैंचें भी पड़ी हैं। वहाँ से समतलीय-सी उस घाटी के बीच में उस नगरी की शोभा बस देखते ही

बनती है।

बड़ी कठिनाई के बाद डाकबंगले में एक कमरा हमें मिल गया। हमारे पास के दूसरे कमरे में एक बंगाली महिला ठहरीं थी, जो अपनी विधवा पुत्री के शोकातुर हृदय को शान्ति दिलाने के आशय से बद्रीनाथ जा रही थीं।

अभी हम अपना सामान ठीक से खोल भी न सके थे कि कि वे मुस्कराती हुई हमारे कमरे में आ खड़ी हुईं। यद्यपि असह्य दुःखों ने उनकी सुवर्ण जैसी काया को मलिन कर डाला था, फिर भी उनमें धैर्य और संघर्ष की प्रबल भावना पल रही लगती थी। उनकी आँखें संभवतः कमजोर थीं। इसीलिये एक बारीक फ्रेम का चश्मा वे पहने थीं। बिना किनारी की उजली दूध जैसी सूती साड़ी में भी उनका व्यक्तित्व उभर रहा था। पैरों में वे कपड़े का एक विशेष प्रकार का जूता पहने थीं, जो प्रायः यात्रा में महिलाएँ पहनती हैं। उनके साथ दो नौकर थे, जिनमें एक तो घर से ही उनके साथ था और दूसरा सामान ढोने के लिये कहीं मार्ग से उन्होंने ले लिया था। पहनावे में अत्यन्त साधारण होने पर भी उनमें अनायास किसी के प्रति अपनत्व उत्पन्न कर देने की जो शक्ति थी उसका प्रभाव तभी देखने में आ गया। जब वे हमारे कमरे में आईं हम सभी के अभिवादन का उत्तर दे उन्होंने कहा "हममें से कोई भी एक दूसरे के निकट का नहीं है फिर भी हम एक ही रास्ते के बटोही हैं। आप लोगों को जिस चीज की जरूरत पड़े निःसकोच कह दिया करें।"

कुमार साहब ने आभार प्रकट करते हुए कहा "कोई बात नहीं बहन! हमें आपका साथ पाकर बड़ी प्रसन्नता हुई।"

"चार दिन का साथ है भाई!" उन्होंने तनिक गंभीर होते हुए कहा "फिर तो बिछुड़ना ही होता है।"

"इन चार दिनों की ही बातें सदा के लिये हम सबको एक कर देती हैं, माँ" मैंने कहा।

"हाँ बेटा" वे बोलीं "ऐसी ही बात है। दुनिया के साधु-सन्त यही

कहते हैं कि कोई किसी का नहीं है, यह माया, मोह मिथ्या है, पर जब समय आता है तब स्वयं वे माया-मोह में फँसे बिना नहीं रहते।"

वे अब तक खड़ी ही थीं। सुजाता ने एक ओर आसन बिछा कर उनके पास जा, कहा "बैठो माँ। खड़ी क्यों हो।"

क्षण भर तक वे सुजाता को देखती रहीं और फिर उन्होंने एक बार प्यार से उसके सिर पर हाथ फेरते हुए कहा "बेटी! इतनी कमजोर क्यों है तू?"

सुजाता के ओठों पर एक कृत्रिम मुस्कान खेल गई। अपनी दुर्बलता को छुपाने के भाव से उसने कहा "योंही माँ। कोई खास बात नहीं है। चलने की आदत न होने पर भी रोज कई-कई मील चल लेती हूँ। इसी से कुछ............।"

"बेटी!" स्नेह भरे स्वर में उन्होंने कहा "पहले आत्मा फिर परमात्मा! देह की रक्षा हो तो सब कुछ है, नहीं तो कुछ भी नहीं।"

सुजाता कुछ न बोली। मैं उनके ममतामय मुख की ओर देखता जा रहा था और मन ही मन स्वयं से पूछ रहा था, इस नारी में इतना ममत्व, इतनी दया कहाँ से भर गई?

थोड़ी ही देर में वे हम सब के साथ घुल-मिल गईं। उन्होंने हमारा परिचय जाना। अपने बारे में बहुत सी बातें बताईं और जब वे अपनी पुत्री के बारे में बताने लगीं तो क्षण भर में ही न जाने कैसे उनकी आँखें बरस पड़ीं। घुटनों में मुँह छिपाए वे कहने लगीं "धन-धान्य सभी कुछ संसार में मिल जाता है, पर रीती मांग दुबारा नहीं भरती। एक ही लड़की थी। बड़े अरमानों से पाल-पोस कर जितना बन सका पढ़ाया-लिखाया पर प्रारब्ध में कुछ और ही था। शादी के तीसरे ही साल बेचारी के कंगन टूट गए। अब तीर्थ के ही बहाने उसे फुसलाने की चेष्टा कर रही हूँ पर वह तीर्थ को तीर्थ नहीं मानती। क्या करूँ!"

उनकी बात सुन कर क्षण भर के लिये हम सभी स्तब्ध हो, सहानुभूति के साथ उनकी ओर देखते रहे। उन्होंने अब अपनी आँखे पोंछ ली

थीं, फिर भी यत्र-तत्र अश्रुकण जमे थे।

सुजाता, जो उनके ही मुख से उनकी पुत्री का नाम जान चुकी थी, चुप्पी भंग करती हुई बोली "माँ! नर्मदा दीदी से तो मिलाओ।"

"हाँ बुलाती हूँ" कह कर वे उठ कर खड़ी हो गईं। दरवाजे के निकट से उन्होंने एक साथ दो-तीन आवाजें दीं और प्रत्युत्तर मिलने पर वे पुनः भीतर आकर बैठ गईं। तभी सफ़ेद वस्त्रों में एक युवा रमणी झिझकते हुये कमरे में प्रविष्ट हुई। उसने चप्पलें दरवाज़े पर ही उतार दीं, और मानो वह सर्वथा अपरिचित स्थान पर आ गई हो, सिमटी-सी अपनी माँ के साथ ही बैठ गई।

माँ ने बारी-बारी से हम सबका नर्मदा के साथ परिचय कराया। परिचय के समय नर्मदा के कान ही हमारी ओर लगे रहे। आँख उठा कर भी उसने किसी ओर न देखा, केवल उसके चूड़ियों से रहित गोरे हाथ क्रम से जुड़ कर अभिवादन का उत्तर देते रहे। भले ही उसने आँखें न उठाईं किन्तु उसकी पलकें अपना सारा दर्द, सारी व्यथा कह गईं। इस आयु में शृंगार विहीन वह नारी ऐसे ही लग रही थी जैसे बिना छत का भव्य भवन। उसके छिटके केश, उसकी रीती माँग और खाली कलाइयाँ मानो एकाकीपन की आदी हो चुकी थीं और इससे भी आगे उसका वह सादा वेश शान्ति और सन्तोष का प्रतीक था। उसकी मौन आँखें और परस्पर एक दूसरे से सटे हुए ओंठ स्वयं में एक कहानी थे।

सुजाता ने पास जाकर उसका हाथ पकड़ते हुए कहा "दीदी आओ बाहर चलें।"

नर्मदा की पलकें हिलीं और तब सुजाता की ओर एक मैत्री-भाव से देखते हुए वह उठ कर बाहर चली गई। मुझे उसके चलने में, उठने और बैठने तक में एक दुःखभरा भाव छिपा दिखाई दिया, और देर तक मैं उसी की ओर देखता रह गया।

उसकी माता जी को हम सभी ने रानी माँ कह कर पुकारना प्रारम्भ किया, वैसे भी यही नाम उनका पुकारने का था।

शाम को सुजाता ने नर्मदा के बारे में मुझे सारी बातें बताईं। उसने नर्मदा की प्रशंसा करते हुए कहा "वह इतनी अधिक पढ़ी-लिखी नहीं है, फिर भी उसकी विद्वता आश्चर्यजनक है। अपने मन ही मन वह दुःख में घुलती रहती है किन्तु गले से बाहर उसका दुःख नहीं आ पाता।"

मैं चुपचाप सुजाता की बातें सुनता गया। लगता था वह नर्मदा से बहुत अधिक प्रभावित थी। मैंने उससे प्रश्न किया "नर्मदा की आयु तो अभी बहुत थोड़ी है। क्या यह उचित नहीं था कि उसका पुनर्विवाह कर दिया जाता ?"

"नारी को आप क्या समझते हैं ?" वह बोली "क्या वह बैलगाड़ी है जिसे जब चाहा मनचाहे बैल के साथ बाँध दिया ! नारी एक समझने की चीज है, उसे केवल वासना की मशीन समझना भूल ही नहीं विडम्बना भी है। नारी श्रद्धा और समर्पण की मूर्ति है। भोग उसकी शारीरिक प्रवृति है, आदर्श नहीं किन्तु साधारणतः उसे भोगप्रधान माना जाता है। यह कहाँ का न्याय है भला ?" वह एक क्षण चुप होकर बोली "नर्मदा एक पवित्र विचारों की लड़की है। जब उसने एक पुरुष में अपने आराध्य के दर्शन किये थे तभी उसे अपना हृदय समर्पित कर चुकी। अब दुर्दैव ने उसकी न सुनी तो जो चीज़ वह एक को दे चुकी है उसी को वह दूसरे को किस प्रकार समर्पित कर सकती है ?"

"तुम बात तो ठीक कहती हो।" मैंने उसकी बात का समर्थन करते हुए कहा "किंतु अभी तक उस मंजिल से तुम्हारा वास्ता नहीं पड़ा है जिस पर नर्मदा जैसी लाखों नारियाँ आज चल रही हैं। अपयश मिलते देर नहीं लगती। फिर मन कितना चंचल और परिवर्तनशील है। उस पर नियंत्रण पाना कितना कठिन है, इस गूढ़ बात को समझने की चेष्टा करो। आज जिस बात को सोच कर तुम घृणा से मुँह बिचका लेती हो, कल उसी पर जब तुम विचार करोगी तो अपने आपको बदला हुआ देखोगी। इसके लिये पुरुष की अपेक्षा नारी को अधिक सशक्त रहने की आवश्यकता है, क्योंकि आज का समाज नारी को इतना सशक्त नहीं मानता,

जितना पुरुष को। इसके लिये तुम पुरुष वर्ग को दोषी ठहरा सकती हो, किन्तु इससे तुम इन्कार नहीं कर सकतीं कि भारत का नारी समाज भी जागृत नहीं है। उसके लिये पग-पग पर कठिनाइयाँ हैं, उसका क्षण-प्रतिक्षण अपयश से सामना रहता है और इस सबसे निर्विघ्न निकल जाने के लिये उसे एक पुरुष साथी की परम आवश्यकता होती है।"

"मैं ऐसा नहीं समझती" वह दृढ़ता के साथ बोली "परिवर्तनशील नारी ही होती है या नारी का ही मन चंचल होता है, यह मैं कैसे मान लूं। पुरुषों में क्या यह बात नहीं होती? रही बात समाज की, कोई भी समाज यदि किसी पर भी मनमानी करे तो उसे सह जाना अन्याय को स्वयं पर हावी होने देना है। यश और अपयश की बात पर अपना मार्ग छोड़ देना बुद्धिमत्ता नहीं। अपने आप जिसमें संयम की शक्ति हो, उस पर अपयश की आँच कोई प्रभाव नहीं ला सकती। नर्मदा की जहाँ तक बात है, उसके बारे में यह बात मैं दावे के साथ कह सकती हूँ कि वह अडिग है, उसके विचार अविजेय, सिद्धान्त अपरिवर्तनीय हैं। वह स्वयं अपनी सम्बल है।"

"यदि स्वयं उसमें इतनी शक्ति है" मैंने कहा "तब बात दूसरी है। किसी के विश्वास और श्रद्धा को भय दिखा कर डिगाने की चेष्टा करने का मैं समर्थक नहीं, और न ही मैंने इस आशय से ऐसी बात कही है। संयम सदैव से पूज्य रहा है और यदि नर्मदा ने इच्छा से उसे वरण कर लिया है तो वह निश्चय ही पूज्य है।"

सुजाता ने अपनी बात का समर्थन पाकर एक मुस्कानपूर्ण साँस ली किन्तु तभी उसके माथे पर बल पड़ गए, उसकी साँस वहीं रुक गई थी, जैसे उसके गले में कोई काँटा फंस गया हो। उसने एक दर्दभरी सिसकारी छोड़ी।

मैं चिन्तित हो गया, और उसे दोनों बाहुओं से सम्हालते हुए मैंने पूछा—"क्या हुआ?"

वह कोई उत्तर न दे सकी, संकेत से ही उसने छाती की ओर हाथ

किया, और फिर एक दर्द भरी आह छोड़ी।

मैं उस स्थान पर दबाने लगा। उसने बड़ी ही कठिनाई से कहा "जिगर फट गया है !"

"पागलपन की बातें न करो सुजा !" मैंने स्नेह भरे स्वर में कहा "तुम अपने मन से ही ऐसा सोच बैठती हो।"

उसके माथे की सिकुड़ी रेखाएं क्रमशः मिट आई थीं और अब धीरे-धीरे उसने साँस लेनी प्रारम्भ कर दी थी।

हालत ठीक होने पर वह बोली "ऐसा लगा था जैसे आग का लावा कहीं फट गया हो।"

"अब तुम अधिक इस बारे में मत सोचा करो" मैंने उसके माथे का पसीना पोंछते हुए कहा "देख लेना, तुम स्वतः ही ठीक हो जाओगी।"

वह फिर एक सरल-सा भाव चेहरे पर लाती हुई मुस्करा दी। उसने उसी प्रकार कहा "कल्पना की उड़ानें भरना, आप अच्छी तरह जानते हैं।"

"चिन्ता न करो" मैंने कहा, "तुम भी इसमें क्रमशः कुशल हो जाओगी।"

हम दोनों उस समय डाकबंगले से काफी दूर जंगलात की एक सड़क पर चल रहे थे। वहाँ का दृश्य अत्यन्त ही भव्य और रमणीक था।

रास्ते में मैंने उससे कहा "हमारी विकट यात्रा तो अब प्रारम्भ होने वाली है। क्या तुम्हें पूरी आशा है कि तुम इस हालत में उसे जारी रख सकोगी ?"

वह बोली "क्या आप हम सबसे अलग होने का बहाना ही ढूढ़ते रहते हैं ?"

"अब ऐसा ही तुम अर्थ लगाओ तो मैं क्या कर सकता हूँ ?" मैंने कहा।

"क्या हँसी करना भी अपराध है ?"

"मैंने कब उसे अपराध बताया है ?"

"तब चलो" मेरे कन्धे का सहारा लेती हुई वह चल पड़ी। मैंने फिर कहा "मेरी मूल बात का उत्तर चाट गई !"

"ओह" हँस कर उसने कहा—"उसका उत्तर यही है कि·········· ······" वह रुक गई और कुछ ठहर कर उसने बात पूरी की "जब तक आपके कंधे मेरा भार ढोते रहेंगे, तब तक मैं इसी प्रकार आगे बढ़ती चलूँगी।"

और तब हम दोनों डाक बंगले पर लौट आए। उस रात्रि रानी माँ के आमंत्रण पर हम सब ने उन्हीं के हाथ का बना भोजन किया। उन्होंने पूरी आलू का साग बनाया था। बहुत दिनों के बाद ऐसा भोजन प्राप्त होने के कारण प्रायः सभी सीमा से अधिक खा गए। मेरी व सुजाता की अनुपस्थिति में कुमार साहब रानी माँ के पास बैठे सम्भवतः अपनी सम्पूर्ण जीवनी उन्हें सुना गए थे। मेरा जीवन वृत्त भी उन्होंने बढ़ा-चढ़ा कर रानी मां के आगे रख दिया था। शायद तभी रानी मां भोजन परोसते समय मुझे गौर से देखती रहीं।

नर्मदा हम सबके बार-बार कहने पर भी साथ खाने न बैठी, वह परोसने में रानी मां का हाथ बटाती रही। इसी बीच रानी मां ने मुझे लक्ष्य कर एक अप्रत्याशित-सा प्रश्न कर दिया "सुना है बेटा तुम बंगाल के हो ?"

"हां माँ" मैंने कौर तोड़ते हुए कहा "कभी था।"

"क्यों अब नहीं हो ?"

"अब नहीं हूँ" मैंने कहा "जब से विचारने योग्य बुद्धि पाई है, तबसे प्रांत विशेष का अपने आपको कहने की इच्छा नहीं होती। एक ही मिट्टी है, एक ही देश है, सभी कुछ तो एक है, फिर स्थान विशेष के साथ अपने को कैसे जोड़ लूँ ?"

"यह सभी कुछ तो ठीक है बेटा" वे बोलीं "संसार की सभी

औरतें तो मां सदृश ही हैं, किन्तु जन्मदात्री का स्थान उन सभी से क्या ऊँचा नहीं है ?"

मैंने कहा "देखा जाए तो सभी का स्थान अपनी जगह ऊँचा ही है। फिर यह परम्परा तो मनुष्य ने सभ्य होने पर स्वयं स्थापित की है, इसे आज परम्परा कैसे माना जा सकता है। एक माँ जन्म देकर संसार से चली जाती है और दूसरी उसका पालन-पोषण कर बड़ा बनाती है, अब कहिये दोनों में से कौन बड़ी है ?"

रानी माँ हँस पड़ीं। बोलीं—"बेटा बड़े तार्किक लगते हो। इतनी छोटी आयु में इतनी बातें किसने तुम्हें पढ़ा दीं ?"

कुमार साहब बोल उठे—"जन्म से ही सीख कर आए हैं यह।" बात बहुत बड़ी न थी किन्तु हँसी का एक हल्का-सा दौर चले बिना न रह सका।

उस सारी रात्रि मैं बिछौने पर पड़ा रहा। लाख प्रयास करने पर भी आँखों में निद्रा का स्पर्श न हुआ। हृदय में विचारों का प्रवाह उठ कर तेजी से मन को झिझोड़ता रहा। सुजाता मेरे लिये एक समस्या बनती जा रही थी, और उसी पर मेरा ध्यान केन्द्रीभूत था।

दे घाट से यहां तक किस प्रकार वह मुझ पर छा गई है, इस बात पर मैंने आज विचार किया। मुझे अनुभव हो रहा था मानो मैं अपने पथ से भटकता जा रहा हूँ। मैं संसार में व्यक्तिविशेष से प्रेम नहीं करता, मेरा प्रेम संसार में सब के लिये बराबर-बराबर है। फिर सुजाता पर मैं इतना अनुरक्त क्यों हूँ ? मैं प्रत्येक समय उसके बारे में क्यों सोचता रहता हूँ ? क्या वही मेरी मंजिल है ? ओह ! मुझे स्वयं पर ग्लानि होने लगी। मनुष्य कितना कमजोर हृदय से होता है। किसी का साथ वह बिना उसके प्रति आकृष्ट हुए नहीं निभा सकता।

उसके मन में स्त्री को देख एक ही विचार क्यों उत्पन्न होते हैं ? बाहर स्वयं को उच्च और महान प्रकट करने वाला मनुष्य हृदय में कितनी दुर्बलताएं छिपाए है, इसका अहसास स्वयं मुझे होने लगा। बेचैनी से

में करवटें बदलता रहा, और विचारों का संघर्ष तीव्रतर होता गया। मैंने सोचा, क्या इसमें सुजाता स्वयं भी उतनी दोषी नहीं, जितना कि मैं हूँ। उसने एक प्रकार से स्वयं को मेरे हाथों क्या समर्पित नहीं कर दिया ? इस समर्पण के भीतर कौन-सा भाव निहित है ? क्या वासना नहीं ? हाँ ? मैंने स्वयं अपनी बात का समर्थन किया कि स्त्री और पुरुष के प्रेम का केन्द्रविन्दु प्रारम्भ में वासना ही है। बाद में भले ही वह अतृप्त रहने पर अतीन्द्रियवादी हो जाए। वह वैराग्य का चरण है जब अतृप्त वासना जल कर क्षार हो जाती है—किन्तु इसका मूल, इसकी सृष्टि का आधार वासना ही है।

मुझे लगा जैसे कोई दिव्य ज्योति मेरे हृदय में जगमगा उठी है, जो मुझे सचेत कर कह रही है "ओ यात्री ! सम्हल कर चल, तुझे बस चलते जाना है......जब तक प्राण हैं तब तक चलना है .....तू मोम न बन, तुझे शिला जैसा कठोर बनना है, क्योंकि लक्ष्य पर चलना इतना आसान नहीं है।"

मन के एक कोने से आवाज आई "तो क्या सुजाता को मुझे बीच पथ में छोड़ देना होगा ? मेरी स्नेहानुभूति पर ही तो वह जीवित है, अब क्या उसके भावों को तोड़ देना उचित होगा ?"

उत्तर मिला "भावों को बदल डाल। उसके विचारों को मोड़ दे............!"

मैंने देखा तो उस पहाड़ी स्थान पर भी माथे पर पसीने की बून्दें चू रही थीं। बहुत कुछ सोच जाने के बाद मस्तिष्क कुछ हल्का-सा लगा और तब अनायास ही भोर के समय पलकें मुँद गईं।

प्रातः जब मैं सोकर उठा तो यात्रा की समस्त तैय्यारियां पूर्ण हो चुकी थीं। यह प्रायः पहले दिन ही तय हो चुका था कि अब किसी भी पड़ाव पर एक रात्रि से अधिक हम व्यतीत नहीं करेंगे, अतः उसी के अनुसार सभी कुछ तय्यार हो गया। रानी माँ ने मार्ग के लिये आलू के कुछ पराठे सेंक लिये और जब मैं हाँथ-मुँह धोकर कमरे में आया

तो सम्मिलित चायपान के लिये सभी को प्रतीक्षा में बैठे पाया। आते ही मैंने कहा—"मैं तो रात को देर से सोया था, इस कारण जागने में देर हो गई पर आप सबका मेरे लिये इतनी देर चाय ठंडी करना क्या आवश्यक था ?"

रानी माँ हँस दीं। उनकी उस हँसी में एक वात्सल्यपूर्ण भाव तैर रहा था; एक अपनत्व-सा आ गया था उनमें। सरल भाव से उन्होंने उत्तर दिया "औरतें बड़ी भावुक होती हैं बेटा ? तुमने तो बस कह दिया न, कि क्या आवश्यकता थी।"

उनकी बात का कोई भी उत्तर मेरे पास न था। मैं क्या कहता चुप रहा। वे फिर कहने लगीं "तुम इतनी छोटी उम्र में ही वैरागी बन गए, यह क्या तुमने अच्छा किया ? कहीं गिरस्ती बसाई होती, आराम से रहते होते......अरे ये बन तो हमें भटकने को काफी हैं, तुम्हें इसमें पैरों के तले घिसने की क्या आवश्यकता थी। कुमार भय्या से सभी कुछ तुम्हारे बारे में सुन चुकी हूँ।"

उनकी बात में एक स्नेह पूरित प्रताड़ना भरी थी किन्तु मेरे भ्रमण की बात में उन्हें अवश्य भ्रान्ति हुई है यह जान मैंने कहा "रानी माँ ! सभी कुछ आपने ठीक ही कहा है पर वनों में फिरने वाली बात से मैं सहमत नहीं हूँ। मैं वैरागी बन कर घूम रहा हूँ यह आपने कैसे समझा ? आप जिस उद्देश्य से यहाँ आई हैं मैं उससे नहीं। आप स्थान विशेष को तीर्थ मान कर यहाँ आई हैं, मेरे लिये यहाँ का चप्पा-चप्पा तीर्थ है। मैं उन मंदिरों और उनमें बसे पाषाणों का भक्त भले ही न होऊं किन्तु प्रकृति की प्रत्येक कृति का दास हूँ।"

मेरी बात पर आश्चर्य व्यक्त करते हुए उन्होंने पूछा "तब तुम बद्रीनाथ क्यों जा रहे हो ?"

मैंने कहा "मैं निश्चय ही उस मंदिर की भक्ति के लिये वहाँ नहीं जा रहा। मानव की भावनाओं के आगे वह कुछ भी नहीं किन्तु एक चीज का मैं अवश्य ही आदर करता हूँ और वह है प्रत्येक के विश्वास एवं

उसके विचारों पर श्रद्धा। जिस चीज को मैं स्वयं नहीं मानता उसे दूसरों पर थोपना भी मुझे पसन्द नहीं है। मैं पत्थरों की पूजा नहीं करता फिर भी किसी को ऐसा करने से नहीं रोकता। फिर जिस पर आप इतनी श्रद्धा रखती हैं उसके प्रति मैं अश्रद्धा भी नहीं जता सकता। प्राणिमात्र से प्रेम करना ही मेरा सिद्धान्त है और उस नाते संसार की प्रत्येक चीज मेरी श्रद्धेय है।"

सभी कीं आँखें स्तब्ध भाव से मुझपर स्थिर थीं। मेरे ओठ जिनसे बिना किसी रुकावट के शब्द निकलते चले जा रहे थे सभी की आंखों के केन्द्रविन्दु बने थे। नर्मदा ध्यान से मेरी बातें सुन रही थी और जब मेरी दृष्टि उसकी ओर घूम जाती, तब वह अपनी पलकें शीघ्रता से नीचे की ओर झुका लेती।

रानी माँ भी एकाकार नेत्रों से मेरी ओर देख रही थीं। मेरी बात की समाप्ति के पश्चात उन्होंने भाव विह्वल हो कर कहा 'बेटा भगवान तुम्हें चिरायु करें। तुम्हारे विचारों को सुन कर मुझे इतना सन्तोष तो हो ही गया कि तुमने भटक कर कुछ गँवाया नहीं।"

"यह आपकी उदारता है रानी माँ!" मैंने हृदय के भावों पर नियन्त्रण करते हुए कहा। कुछ क्षण चुप रह कर धीरे से स्वतः ही मेरे मुख से निकल गया "आपका दिया हुआ आशीर्वाद मैंने गाँठ बाँध लिया है। जब कभी आवश्यकता होगी किसी बड़ी बाधा का सामना करने के लिये उसका प्रयोग करूँगा।"

उन्होंने आँखें दूसरी ओर फेर कर धीरे से कह दिया "ऐसा ही हो··· ऐसा ही हो बेटा!"

उस समय सभी की गर्दनें नीचे की ओर झुकी हुई थीं और लगता था जैसे सर्वत्र एक स्नेह का आंचल फैल गया है और उसमें करुणा के साथ वात्सल्य के रंगों ने एक इन्द्रधनुष की सृष्टि कर दी है।

इस प्रकार के वातावरण में हमारा चाय पान का कार्यक्रम समाप्त हुआ, और अभी दिनकर की जाज्वल्यमान किरणें पूरी तरह वहाँ के

शिखरों पर छिटक भी न पाई थीं कि हमारा काफिला आगे की यात्रा के लिये रवाना हो गया। आज हम चार से आठ हो गए थे और एक ही रात्रि का परिचय एक प्रगाढ़ मैत्री के रूप में इस प्रकार परिवर्तित हो गया था। हमारी मंजिल दूर होने पर भी इतनी निकट अनुभव हो रही थी कि, उसके बाद हम सबको एक दूसरे से पृथक होना पड़ेगा, ऐसा विचार अनायास ही मन में आकर एक दुःखपूर्ण वातावरण की कल्पना में खींच ले जाता।

कोटद्वार से कभी ऊँचे, कभी नीचे और कभी ऊबड़-खाबड़ मार्ग पर अपने पैरों को गति देते हुए हम पौड़ी के मार्ग पर बढ़ने लगे। एक छोटी-सी नदी पर झूले का पुल पार कर हम एक साधारण-सी चढ़ाई चढ़ने लगे। हमें बारह मील लम्बा एक सघन-वन पार करना था, अतः जब प्रारम्भ में हम उस वन में प्रविष्ट हुए तो एक ओर से लेकर दूसरे ओर तक फैली हरियाली को देख कर हम बारह मील के उस मार्ग की दुर्गमता को बिलकुल ही भूल गए, चीड़ और देवदारु के वृक्षों से भरा वह वन अपने आप में सम्पूर्ण प्रकृति की सुन्दरता को छिपाए लग रहा था। बीच-बीच में जंगली कन्द मूलों का आहार करते वानर एवं लंगूरों की क्रीड़ाएँ देखते हुए हम आगे बढ़ते रहे। कहीं-कहीं हिरणों का झुँड हमारे दल को देख चौकड़ियाँ भरना शुरू कर देता तो, उनके भयातुर चेहरों से जो भाव प्रगट होते उन्हें देख कर लगता जैसे मानव के आतंक से उन निरीह जीवों की आँखें भयभीत हैं। वास्तव में मानव से अधिक अधिनायक-वादी प्रवृत्ति संसार में किसी की भी तो नहीं है। सिंह, व्याघ्र और सर्पादि जिन्हें हिंसक कहा जाता है, उनकी हिंसक प्रवृत्ति मनुष्य के आगे तुच्छ ही तो है। मनुष्य को अपनी बुद्धि पर गर्व है, वह अपने सुख को सर्वोच्च समझता है। उसके सुख में जो भी निर्बल जीव आड़े आता है उसे कुचल देना मनुष्य की मुख्य प्रवृत्ति है। एक गौण सी चींटी भी उसके मार्ग में आ गई तो उसे भी मसले बिना उसके मन की तृप्ति नहीं होती। ओह! प्रकृति की सर्वश्रेष्ठ कृति मनुष्य की यह क्रूर प्रवृत्ति? उसी प्रवृत्ति का

आतंक उस झुंड के हिरनों की आँखों में तैर रहा था।

लगभग चार मील तक उसी प्रकार चलते रहने के पश्चात वन और भी सघन होता गया। नीचे चट्टियों पर बसे छोटे-छोटे ग्रामों की महिलाएं घास का गट्ठर लिये सरपट पहाड़ी पर उतरती दीख जातीं और वे सभी इस निर्भयता से ढलान पर उतरतीं कि लगता जैसे वे चट्टानें उन्हें अपनी सन्तान समझती हों। कहीं पेड़ों से सूखी लकड़ी काटती ग्राम्य बालाँए दिखाई देतीं तो कहीं गायों के झुण्ड की रखवाली करते चरवाहे कबड्डी या अन्य खेलों में निमग्न दिखाई दे जाते।

इसी प्रकार के अनेकानेक दृश्यों को देखते हुए हम बात की बात में वह बारह मील का तराई-भाबर वन पार कर जिस स्थान पर विश्राम करने बैठे, वह स्थान था करुणा आश्रम! कहते हैं यहीं महर्षि वाल्मीकि ने आध्यात्म का ज्ञान प्राप्त कर संसार को वह दिव्य सन्देश दिया, जो आज भी लाखों, करोड़ों जनों के मानस को अन्याय का प्रतिकार कर कर्म पथ की ओर अग्रसर होने की अजस्त्र प्रेरणा प्रदान कर रहा है। नाना प्रकार के प्राकृतिक दृश्यों के बीच उस पवित्र स्थान पर हम सभी ने रानी माँ के द्वारा बनाये गये पराठे खा कर झरने का शीतल जल पी, आत्मिक शान्ति अनुभव की और एक घण्टे वहाँ विश्राम करने के पश्चात हम अगली मंजिल की ओर अग्रसर हो गए।

दोपहर हमारे सिर पर थी किन्तु अपनी प्रचण्ड किरणों से ब्राह्मण्ड को विदग्ध कर देने वाले दिनकर का प्रभाव मानो इस रम्य स्थली में निस्तेज हो गया लगता था। एक छोटी नदी को काठ के एक काम चलाऊ पुल की सहायता से पार करने के उपरान्त हम एक चढ़ाई चढ़ने लगे। कुमार साहब और रानी माँ जैसे घुल-मिल कर एक हो गए थे। नर्मदा उनके साथ ही चल रही थी। उसने बंगाली ढंग से अपनी सफेद साड़ी का फैटा बाँध रक्खा था, किन्तु उसकी उन्मुक्त केशराशि कमर तक झूलती साफ़ दिखाई दे रही थी। वह अपने मार्ग पर दृष्टि गड़ाए चलती जाती, इस बीच वह आगे की ओर दृष्टिपात भले ही कर लेती किन्तु

पाछे मुड़ कर देखते उसे अब तक मैं परिलक्षित न कर पाया था।

आगे एक छोटे से झरने को देख सुजाता ठहर गई। उसने चढ़ाई के कारण फूल गई सांस छोड़ते हुए, शरारत के स्वर में मुझसे कहा "एक बात मानेंगे ?"

"कहो !"

"आओ हम दोनों यहीं कुटी बना कर रहने लगें" उसने कहा "सुना है यह देवी पार्वती की तपोभूमि है।"

"पर तुम पार्वती का अनुसरण करके किस शिव की आराधना करोगी ?" मैंने सहसा पूछा।

"मान लो आप ही की आराधना करूँगी तब" उसने हँसी के ही स्वर में उत्तर दिया।

"मेरी ?" मैं जोर से हँस पड़ा—"ना बाबा ! मुझे शिव बनना स्वीकार नहीं। तुम और कोई शिव ढूँढ़ लो। मैं तो एकदम मनमौजी शिव साबित होऊँगा। सुना है न तुमने कि—आई मौज फकीर की, दिया झोंपड़ा फूँक।"

"कैसी बातें करते आप हैं" उसने बच्चों जैसी वाणी में कहा "शिव तो सदा एक होता है, फिर दूसरे शिव की बात कैसे आपने कह दी ?"

"वह सत्यं-शिवं-सुन्दरम् एक है सुजाता ?" मैंने स्वर बदलते हुए कहा "उसे पार्वती की आवश्यकता नहीं होती। वह सृष्टि है, वह संहार है··· वह यहाँ-वहाँ सर्वत्र है। तुम जिस शिव की बात करती हो, मैंने तो उस शिव के बारे में कहा था कि उनकी कमी नहीं है।"

वह एक क्षण के लिए चुप हो गई, फिर उसने झरने के पास जाकर चुल्लू से पानी पीया। मुँह को बिना पोंछे वह मेरे कंधे को पकड़ कर मंथर गति से मार्ग तय करने लगी। तब उसे देखने से ऐसा लगता था जैसे वह एकदम बच्ची हो और उसे संसार की टेढ़ी-मेढ़ी लीकों का रंचमात्र भी ज्ञान न हो।

कुछ आगे बढ़ने पर उसने मेरे कंधों का सहारा छोड़ दिया और जैसे

वह हताश हो गई हो ऐसे स्वर में उसने कहा "अच्छा एक बात मुझे बता दें, आपके इस अनुभूतिशील हृदय में पाषाणों के प्रति ही प्रेम है? मानव के लिये कहीं भी स्थान इसमें नहीं है क्या ?"

"ऐसा तुमने किस आधार पर सोचा ?" मैंने उसकी बात के उत्तर में एक और प्रश्न जोड़ दिया।

वह अत्यन्त ही क्लान्त स्वर में बोली "काश कि इसका उत्तर आप स्वयं से पूछते। मैं मृत्यु-पथ की यात्री अब आपको क्या कह सकूँगी। ऐसा मेरे पास कुछ भी तो नहीं है, जिससे आपको बाँध कर रख सकूँगी। इतनी भाग्यवान भी तो मैं नहीं हूँ।" अपनी बात समाप्त करते ही उसने दुःखी भाव से अपनी गर्दन नीचे झुका दी। एक झटके से उसके कुण्डल हिल उठे, मानो जड़ होने पर भी उन्हें उसकी वेदना ने प्रकम्पित कर दिया हो।

मैंने स्थिरता से उत्तर दिया "तुमने जो वहम अपने हृदय में पनपा लिया है उससे तुम आत्मा के साथ घोर अन्याय कर रही हो। अकारण ही स्वयं को मृतवत् समझ लेने की तुम्हारी यह प्रवृत्ति दूसरों को भी दुःखी कर देती है, किन्तु तुम्हें इस की अनुभूति नहीं होती। बार-बार समझाने पर भी तुम यदि नहीं मानतीं तो अब कभी मैं इस बारे में न कहूँगा। रही बात, मुझे बाँध पाने की, सो इसमें कभी-भी तुम सफल न हो सकोगी। मैं सोने के पिंजरे में दूध-भात खाने का उद्देश्य लेकर नहीं चला हूँ। मुझे उन्मुक्त होकर डाली-डाली में उड़ना अधिक अच्छा लगता है। वैसे इतना निर्दयी भी मैं नहीं, इसीलिये बिना किसी के बाँधे, स्वयं खिंचे चले जाने की मेरी प्रवृत्ति है।"

मेरी बातें सुनकर उसकी बड़ी-बड़ी आंखें भर आईं किन्तु सावधानी से दूसरी ओर मुँह मोड़ कर उसने उन्हें रूमाल से पोंछ डाला और फिर भर्राये हुए गले से वह बोली "अब कुछ न कहूँगी। आपका मार्ग प्रशस्त हो, आप उन्मुक्त हो उड़ें, यही मेरी कामना है। मैं मूर्ख थी, और दुस्साहसी भी, अब कुछ भी देखना बाकी नहीं रह गया।"

मन ही मन अपने कठोर शब्दों पर ग्लानि हुई किन्तु न जाने किस क्रूर भाव के वशीभूत हो मैं उसे शान्त न कर सका। मैंने एक भी सहानुभूति का शब्द उससे न कहा और हम दोनों चिर परिचित से यात्री एक ही मार्ग पर इस प्रकार चलते रहे मानो हम एक नदी के दो किनारे हों। वह लड़खड़ाती-सी चल रही थी जैसे उसकी समस्त शक्ति क्षीण हो गई हो। किन्तु हृदय में बैठे गर्वरूपी उस दैत्य की प्रेरणा से अभिभूत मैं उसे सहारा भी न दे सका, जिसे सहारे की अवश्यकता थी, जो त्रस्त थी, जिसे स्नेह और आश्वासन की उतनी ही आवश्यकता थी जितनी लू के सताए पौधों को जल की होती है।

धीरे-धीरे हमने चढ़ाई पार कर ली। वहाँ से पुनः आधा मील का ढलान उतरना था, उसके पश्चात एक पड़ाव था। ऊपर चट्टी पर जब हम पहुँचे तो कुमार साहब सहित रानी माँ और नर्मदा को विश्राम करते पाया। पास ही लछुवा और रानी माँ का सामान ले जाने वाला रूपराम बैठे बीड़ियां का धुआं उड़ा रहे थे, उन्हीं के पास रानी माँ का घरेलू नौकर कैलास बैठा था।

हमें देखते ही रानी माँ ने कहा "बेटा! औरों को राह दिखाते-दिखाते स्वयं थक गए लगते हो।" उनका संकेत मेरे पीछे छूट जाने से था।

मैंने उत्तर दिया "तीर्थ कहीं भागे तो नहीं जा रहे है माँ। दौड़ने से क्या लाभ। हम बिना दौड़े ही उन्हें पा लेंगे।"

वह हँस दी। कुमार साहब जो अपना पाइप उलट कर उसमें नया तम्बाकू डाल रहे थे, हँसते हुए बोले "दीदी बातों में तुम इनसे नहीं जीत सकतीं। सुना है तुम्हारे बंगाल में जादू बड़ा होता है। क्या ऐसी कोई तरकीब नहीं है कि इन्हें भी किसी जादू से बाँध दिया जाए?"

रानी माँ ने हँसते हुए उत्तर दिया "जादू तो भाई बड़ा है। पर क्या करूं यहाँ काम न आ सकेगा। अपने देश में होती तो किसी जादूगरनी से इसे बँधवा अवश्य देती।"

उनकी बात पर सभी को हँसी आ गई थी। नर्मदा ने मुस्करा कर दूसरी ओर मुख फेर लिया था और सुजाता को देख लगता था जैसे वह शिष्टाचारवश हँसने को बाध्य हुई हो।

हम चलने के लिये उठ गए पर चलते-चलते रानी माँ की बात का उत्तर दिये बिना मैं न रह सका। मैंने हँसी के स्वर में कहा "रानी मां, ऐसा आप अवश्य कीजियेगा पर इस बात का मैं जिम्मा नहीं लेता कि जादू चलाने वाले पर कहीं उल्टा ही प्रभाव न हो।"

कुमार साहब ने अपनी पाइप में से नीला धुआँ आसमान की ओर छोड़ा और फिर अपनी सफेद पड़ गई दाढ़ी पर हाथों से कंघा-सा करते हुए वे खिलखिला पड़े।

सामने ही दुगड्डा मण्डी दिखाई दे रही थी और शिखर के इस ओर से ही छोटे-छोटे मकानों का क्रम प्रारम्भ हो गया था। सड़क के किनारे स्थित इन मकानों में चाय पकौड़े और रायता-पूड़ी से लेकर परचूनी तक का सामान था। कुछ आगे जाने पर हमें तारकोल की पक्की सड़क मिल गई जो कोटद्वार से घूम फिर कर आती है। मोटर द्वारा आने वाले यात्री इसी सड़क से आते हैं। दुगड्डा मण्डी इस पर्वतीय प्रदेश का एक सुन्दर और अस्पताल, डाकखाना एवं मोटर स्टेशन आदि की सुविधाओं से सम्पन्न अच्छा बाजार है। दूर-दूर के गांवों से विद्यार्थी यहाँ के हाई-स्कूल में पढ़ने आते हैं और तराई के इलाकों के निवासी यहीं से अपनी दैनिक आवश्यकता की चीजें ले जाते हैं। बाजार में आगे बढ़ने पर कुछ छोटी-छोटी मोटरें खड़ी दिखाई दीं। इनमें केवल अट्ठारह व्यक्ति बैठ सकते हैं।

यहाँ एक अच्छी सी दुकान में हम सब ने चाय बनवा कर पी। धार्मिक आचार-विचारों की अनन्य भक्त रानी माँ ने केवल सामने के धारे पर से तनिक-सा जल ग्रहण किया और कुछ नहीं। नर्मदा ने भी जब कुछ लेने से इन्कार किया तो सुजाता ने कहा "अच्छा तो मैं भी कुछ न लूँगी।"

इस पर हार मान नर्मदा ने एक पेड़ा उठा कर मुँह में रख लिया और चाय का एक घूट लेकर वह मुँह पोंछ बैठी । तब सुजाता को भी अपना शस्त्र वापस ले चाय पीनी पड़ी ।

अभी समय काफी था अतः आज की रात्रि दुगड्डा मण्डी में व्यतीत कर देने की अपेक्षा हमने एक मँजिल और तय करने की ठान ली और चाय पीकर हम आगे की ओर चल दिये । हमारी रात्रि की मंजिल फतेहपुर थी, जहाँ से एक मार्ग सीधे पौड़ी की ओर एवं दूसरा लेंसडाउन छावनी को मुड़ जाता है ।

नौ

उस दिन उत्साह में हम शक्ति का अतिक्रमण कर बहुत अधिक पैदल चल गए थे, इस कारण फतेहपुर से पौड़ी तक की यात्रा को पूरे चार दिन लग गए। अपने पीछे हम अनेक सुरम्य स्थल छोड़ आये थे, जिनमें गुमखाल की चट्टी, जहाँ से हमने गिरिराज हिमालय के भव्य दर्शन किये थे, पूर्वी व पश्चिमी नयार नदियों के संगम केन्द्र सतपुली, जहाँ कुछ वर्ष पूर्व अति वृष्टि से दर्जनों मोटरें बह कर यात्रियों को अधूरे मार्ग में ही जल समाधि दे चुकी थीं, और अमोठा पड़ाव मुख्य हैं। अमोठा पड़ाव से सुजाता की रुग्णता में एकाएक वृद्धि से हमारी यात्रा में व्यवधान आ गया था। पाटीसैंण में उसके मुख से रक्तस्राव होने लगा था। वहां नर्मदा ने जिस प्रकार एकाग्र हो कर उसकी सेवा की थी, उससे मेरे मन में उसके प्रति श्रद्धा बढ़ गई थी।

ज्वाल्पा मंदिर पर हमने समस्त रात्रि व्यतीत की थी, क्योंकि सुजाता की शक्ति यहाँ जवाब दे गई थी। दो चट्टानों के बीच बने उस झूले के पुल को पार कर जब अगले दिन हम आगे बढ़े थे तब वहां की समस्त सुन्दरता मुझे फीकी-सी लगी थी, उसका कारण और कुछ न होकर सुजाता की वह स्थिति थी, जिसमें उसका जीवन अब एक बुझती-सी ज्योति के सदृश लग रहा था।

कई बार मैं सोचता, एकाएक वह इस स्थिति को क्यों पहुँच गई। क्या डाक्टरों की वह बात ही सत्य होकर रहेगी? उसके जीवन की घड़ियां क्या अन्त पर हैं? किन्तु कोई भी उत्तर मैं न पाकर और अधिक चिन्ताग्रस्त हो उठता। उस दिन वाली घटना के बाद सुजाता ने मुझसे बोलना कतई बन्द कर दिया था और तभी से उसमें यह परिवर्तन दिखाई देने लगा था। मुझे ओ. हेनरी की एक कहानी याद

आ गई। उसमें सुजाता के ही समान एक युवती का चित्रण है। रुग्ण शैया पर पड़ी-पड़ी वह खिड़की के बाहर एक वृक्ष की ओर नित्य निहारा करती है, उसके एक-एक पत्ते से वह अपने जीवन के सूर्यास्त की कल्पना करती है, पत्ते गिरते जाते हैं, उसकी आशाएं मरती जाती हैं। फिर आती हैं आंधियां, क्रमशः पत्ते गिरते रहते हैं और पतझर तक क्रमशः वह पेड़ पत्तियों से सूना-सा हो जाता है। अन्त में रह जाती है केवल एक पत्ती। उसी पत्ती पर युवती का ध्यान जम जाता है, किन्तु वह नहीं गिरती और युवती का विश्वास पुनः लौट आता है। एक दिन उसी विश्वास के सहारे वह नया जीवन लेकर उठ खड़ी होती है। सुजाता की भूल भले ही इसमें हो, कि उसने मुझे वैसा वृक्ष क्यों समझ लिया, जिसका एक-एक पत्ता उसके जीवन और मृत्यु के बीच रुकावट थी, किंतु क्या मेरे लिये यह उचित होगा कि मैं पतझड़ में भी उस एक पत्ते के समान ठहर कर उसके जीवन का अवलंब बनूं? हां! मुझे बनना ही होगा, मैं बनूंगा। मैं दूसरों के लिये जीने का जब उद्देश्य लेकर चला हूँ तब मेरा अपना स्वाभिमान कहां? सभी कुछ तो प्रकृति का इस भू मंडल पर है। सुजाता उससे बाहर तो नहीं। मुझे लगा जैसे उसकी मृत्यु का कारण मेरे मन में बैठा दर्प है। ऊंचा और श्रेष्ठ चरित्र वाला देवता बनने की झूठी कामना है। मन ही मन मैंने कहा, कहानियों के देवता बनने की चेष्टा मत करो, केवल मनुष्यता का निर्वाह करो और झूठी महत्वाकांक्षाओं का त्याग! तो क्या अब मुझे प्रेम का अभिनय करके उसे जिलाना होगा? यह अभिनय ही तो है। किसी एक का होकर रहने की बात मेरे लिये असंभव है और जब मैं केवल कर्त्तव्य के लिये ऐसा करूं तो वह अभिनय नहीं तो क्या है? किन्तु मुझे अपने में वह शक्ति लानी ही पड़ेगी जिससे मैं अपनी भूमिका निवाह सकूं। कभी-कभी सोचता हूँ कि किसी को हृदय समर्पित कर उसका प्यार पाने की जो मनुष्य की आद्य प्रवृत्ति है उसका मुझ में लोप क्यों हो गया? और इसी लिये मुझे संदेह होने लगता है कि क्या मैं वास्तव में मनुष्य ही हूँ

या जड़ ? इसका कोई उत्तर मैं आज तक नहीं पा सका।

ज्वाल्पा मंदिर से अगरोड़ का बारह मील का मार्ग न जाने किस प्रकार हम तय कर पाए। दो कदम चलते फिर रुक जाते, झरनों का जल चुल्लू से लेकर सुजाता को पिला कर आगे बढ़ते। उसे कुछ शान्ति मिलती और फिर कुमार साहब का सहारा लेकर वह धीरे से चलने लगती। इस प्रकार एक रात्रि अगरोड़ के डाक बंगले में बिता कर अगले दिन पैदल की दो छोटी नदियों को पार करते हुए डुबुवा खाल होते हुए ठीक दोपहर को पौड़ी पहुँच गए।

यहां अस्पताल भी है और जिस डाक बंगले में हमने पड़ाव डाला उस से अधिक दूर भी नहीं है। डाक बंगले में आते ही नर्मदा ने जमीन पर बुहारी फेरी और वहीं सुजाता को एक बिस्तर पर लिटा दिया। चिन्तित-से कुमार साहब उसके पास बैठ गए। मैं अपराधी-सा उसके सिरहाने बैठ गया। रानी माँ किचन में जाकर उस रोज़ के खाने की व्यवस्था देखने में लग गईं। नौकरों को बाज़ार से फल और अन्य सामान लाने भेज दिया। मैं, नर्मदा तथा कुमार साहब सुजाता की शैया के पास बैठ गए। उसकी बेबस-सी पलकें क्षण भर के लिए ऊपर को उठतीं और फिर एक गुबार-सा अपने में दबाए मुंद जातीं। उनमें हार के लक्षण थे, निराशा थी और कुछ ऐसा भाव था जैसे लड़ाके सैनिक ने तलवार फैंक, शत्रु को आत्मसमर्पण कर दिया हो।

एक बार कराह कर वह खांसी और फिर उसने बिस्तर के ही निकट फर्श पर थूक दिया। लाल रक्त काला हो गया था, और बलगम के मिश्रण से उसका भयदायक रूप देख हम सभी सहम गए।

मैंने रूमाल ले उसे पौंछना प्रारम्भ किया तो कुमार साहब बोले "आपका वैसे ही मुझ पर क्या कम अहसान है। इसे रहने दीजिये, यह मौत है, इसे न छुइये, मैं ही अब क्या करूंगा।" और वे बच्चों के समान रो पड़े। उनकी बूढ़ी पलकों से बह कर आने वाले आंसू दाढ़ी के सफ़ेद बालों में अटक कर मोती सदृश चमक गये। मैंने उनकी आँखे पौंछी और

"फिर बहक गए आप ! धैर्य को अन्तिम साँस तक परखिये, आप धैर्य को विश्वास देंगे तो याद रखिये वह आपके विश्वास का मान रखेगा।"

"अब क्या धैर्य रखूँ" वे बोले "पानी सिर से गुजर चुका है।"

"वह उसी तरह उतर भी जायेगा।" मैंने उन्हें शान्त करते हुए कहा।

नर्मदा की आँखों में क्षीण-से आँसू आज प्रथम बार मैंने देखे और अनुभव किया कि खून का रिश्ता नगण्य है, उसकी आत्मा के सम्बन्ध के समक्ष कोई बिसात नहीं। नर्मदा ने सुजाता के बालों में उंगली फिराई और कुमार साहब को सांत्वना देते हुए मृदुल स्वर में कहा "बाबू जी ! आप चिन्ता न करें सुजा ठीक हो जायेगी। आप अकेले तो नहीं, हम सभी आपके साथ हैं।"

"हाँ मेरी बच्ची !" भरे कण्ठस्वर से उन्होंने कहा और नर्मदा के माथे पर हाथ रख दिया। स्नेह से पूरित स्वर में वे पुनः बोले "तुम लोगों के सहारे ही तो मैं जी रहा हूँ।"

तब तक मैंने सुजाता का बलगम साफ कर दिया था। लेटे ही लेटे जब उसने मुझे उसे साफ करते देखा तो संकेत से कुमार साहब से मुझे रोकने के लिये कहा।

वे बोले "बेटा मेरी ये मानें तब न, बता मैं क्या करूँ।"

स्थान साफ कर, हाथ धो मैं पुनः सुजाता के सिरहाने बैठ गया, मेरी जैसी मनोदशा थी, उसे कभी अपलक नेत्रों से देख सुजाता उसकी झलक पा लेती। तब उसके नेत्रों में एक क्षणिक शान्ति का-सा भाव होता।

उसी दिन मैंने कुमार साहब से सलाह कर सुजाता का डाक्टरी मुआइना कराने की बात सोची। उन्हें इसमें क्या आपत्ति हो सकती थी। जीवन रक्षा के लिये जैसा भी हो, उनको बहलाने के लिये वही बहुत था।

दोपहर बाद मैं अस्पताल के सर्जन से मिला और उससे अपने स्थान पर चल कर सुजाता को देख लेने की प्रार्थना की। वह इसी बात

पर हठ करता रहा कि अस्पताल में ही मरीज को देखेगा, अन्त में सिद्धान्त को ताके में रख कर मुझे उसकी पूजा करनी पड़ी और उस पूजा में चूँकि फूलों के स्थान पर मुद्रा की भेंट चढ़ी थी, अतः उसकी अस्वीकृति शीघ्र ही स्वीकृति में बदल गई। कोई घण्टे भर बाद जब मैं डाक्टर को लेकर पहुँचा तो सुजाता सो रही थी।

उसे धीरे से जगा कर मैंने सर्जन के आगे आने का संकेत किया। वह सम्भवतः समझ नहीं पा रही थी कि यह सब क्या है, किन्तु जब सर्जन ने उसकी हृदयगति, गला और नब्ज देखी तब वह समझ गई। उसने मेरी ओर देखा। मानो वह कह रही हो "इसकी क्या आवश्यकता थी।"

संक्षिप्त निरीक्षण के बाद सर्जन ने जो राय व्यक्त की उसका यही सार था कि यहाँ एक्स-रे न होने के कारण भीतरी स्थिति के बारे में कोई निश्चित राय नहीं कायम की जा सकती। रक्त का दबाव उसने सामान्य से अधिक बताया और कुछ दिन के लिये यात्रा को विराम देने की सलाह के साथ अगले दिन उसके बलगम की परीक्षा करने का आश्वासन दिया।

रात्रि को कुमार साहब ने रानी माँ से कहा "दीदी! प्रारब्ध को हमारा साथ मंजूर नहीं है। लगता है आठ-दस दिन हमें यहीं ठहरना पड़ेगा। तुम तीर्थ यात्रा का संकल्प करके चली हो। अगर इस तरह तुम्हें भी देर हो गई तो ठीक न होगा, अतः तुम कल आगे की यात्रा शुरू कर दो।"

रानी माँ ने कहा "जब मनुष्य के सबसे पहले कर्तव्य को ही हम न पहुँच सकेंगे तो तीर्थयात्रा करके परलोक कोई सुधरेगा भैय्या! भला तुम्हें ऐसी हालत में छोड़कर हमें तीर्थयात्रा में क्या संतोष मिलेगा।"

नर्मदा ने भी रानी माँ का समर्थन किया "बाबू जी! सुजा ठीक से चलने योग्य हो जाए, तो हमारी तीर्थयात्रा सफल हो जायेगी।"

काफी रात्रि तक हम सभी रानी माँ को इसके लिये बाध्य करते रहे किन्तु उन्होंने औपचारिक पुण्य के आगे मानवोचित कर्तव्य की दलील दे

हम सभी को चुप करा दिया। आखिर बारह बजे रात्रि के पश्चात बहुत कहने-सुनने पर वे पास वाले कमरे में सोने के लिये चली गईं। जिस कमरे में सुजाता पड़ी थी, उसी के एक कोने में मैंने अपना बिस्तर बिछा दिया, कुमार साहब एक ओर को होल्डाल फैला कर लेट गये। तीनों नौकर 'सर्वेंट्स क्वार्टरों' में जाकर सो गये और धीमी-सी लालटेन की रोशनी में मैंने अपनी डायरी लिखनी प्रारम्भ कर दी, जो उन्ही दिनों मैंने प्रारम्भ की थी। कभी-कभी सुजाता की ओर मैं देख लेता; उसे निद्रित देख मन में कुछ शान्ति-सी अनुभव होती। कुमार साहब डेढ़ बजे तक करवटें बदलते रहे और मुझे जागते देख उन्होंने कहा—

"आपको अपना जरा भी ध्यान नहीं है क्या ? आखिर रात जागने के लिये तो नहीं होती !"

मैंने कह दिया "आप मेरी चिंता न करें। नींद इस समय मुझ से कोसों दूर है, जब आ जायेगी तो स्वतः ही सो जाऊँगा। आप निश्चिन्त हो कर सो जाएं, इनको मैं देख रहा हूँ।"

इसके पश्चात बिना किसी प्रतिवाद के उन्होंने अपने ऊपर कपड़ा ले लिया और क्रमशः निद्रा के आँचल में अपने आपको सौंप दिया।

रात धीरे-धीरे गहरी और भयानक होने लगी। खिड़की की राह मैंने बाहर की ओर देखा तो चारों ओर कालिमा थी। मृत्यु की जैसी नीरवता, कहीं भी प्रकाश नहीं, यहां तक कि किसी घर में टिमटिमाता हुआ चिराग भी दिखाई न दिया। कहीं कोई शोर नहीं। लगता था जैसे सम्पूर्ण प्रकृति जड़ हो गई हो।

मैं पुनः अपनी डायरी लिखने में व्यस्त हो गया। तभी एक आहट-सी हुई, लालटैन के क्षीण प्रकाश में सुजाता की आखें चमक उठीं। उसने ऊनी चादरों की तह खिसका कर छातियों से ऊपर वाले भाग से हटा दी थी। वह गर्दन को मोड़ पीछे की ओर देखने लगी जहां हाथ में पैन लिये मैं उसके जाग जाने से उसी की ओर देख रहा था। एक क्षण तक वह उसी प्रकार निर्निमेष नेत्रों से मुझे देखती रही और फिर उसने उसी प्रकार

ेदंन मोड़ ली।

मुझ से अधिक देर न बैठा गया। समस्त लोक-लाज को तिलांजलि देते हुए मैं दबे पावों से चल कर सुजाता के सिरहाने बैठ गया। उसकी दृष्टि सामने की ओर थी और उसे इस बात का आभास मिल चुका था कि मैं उसके सिरहाने बैठा हूँ किन्तु उसने कोई भी ऐसा भाव प्रकट न किया जिससे मेरी उपस्थिति का उसे भान हो।

वह शान्त भाव से एक करवट पर पड़ी रही। चार ही दिनों में उसके चेहरे की समस्त सुन्दरता न जाने कहाँ तिरोहित हो गई थी, इस पर भी उसकी आँखों में एक ऐसा भाव निहित था मानो उनमें एक पवित्र ज्योति जल रही हो। उसका मुख मण्डल क्लान्त होने पर भी एक वैराग्य जैसा भाव अपने में छिपाए था। मैं देर तक उसका अवलोकन करता रहा और कुछ क्षण पश्चात मैंने उसके केशों पर जो, कई दिनों से रूखे पड़े थे, उंगलियां फेरनी प्रारम्भ कर दीं। उसने इसका कोई भी प्रतिवाद न किया। वह बिना हिले-डुले शिला के समान निःचेष्ट पड़ी रही। कभी-कभी मैं अपनी उंगलियों को उसके माथे पर ले आता और फिर धीरे से वहाँ दबाना प्रारम्भ कर देता। मैंने उसकी आँखों में एक बार झाँक कर देखा। उनके कोरों पर निरन्तर पड़े रहने के कारण जो गीद जम गई थी रूमाल से उसे पोंछा। यह क्रम देर तक चलता रहा किन्तु दोनों मौन रहे। एक शब्द भी किसी ने अपने ओठों से न निकाला।

इसी बीच एक बात हुई। मैं उसका माथा दबा रहा था। उसने धीरे से और बड़े कष्ट के साथ अपना दाँया हाथ चादर में से निकाला, फिर उसे मेरे हाथ के ऊपर रख दिया। मेरा हाथ उसके माथे पर और उसका हाथ मेरे हाथ के ऊपर। वह देर तक उसी अवस्था में शान्त पड़ी रही फिर उसने अपनी आँखें खोलीं, आत्मसमर्पण के से भाव में मेरी ओर देखा। लगता था उस समय उसका रोम-रोम आंतरिक प्रसन्नता से सरावोर था। उसमें एक तृप्ति थी, एक ऐसी तृप्ति जो इच्छित वस्तु के उपयोग से नही वरंच स्वेच्छा से उसका त्याग कर देने के उपरान्त होती है।

कुछ समय बीत जाने पर एकाएक कुमार साहब ने करवट बदली, लालटेन का क्षीण-सा प्रकाश अब भी कमरे की एक झलक मात्र दिखाने में सहायक हो रहा था। कुमार साहब को करवट बदलते देख हम दोनों ही सहम कर तेजी के साथ अलग हो गए। उसकी बेजान कलाई में कहाँ से इतनी तेजी आ गई यह मैं नहीं जान सका, किन्तु तब फुर्ती से उसने उसे सर से हटा कर पुनः चादर में छिपा लिया। क्षण भर बाद ही हमारा वह भय दूर हो गया क्योंकि करवट बदल कर कुमार साहब पुनः गहरी नींद में सो गए।

उसने पुनः एक बार प्यार भरी आंखों से देखा। उसकी दृष्टि में एक अबोध शिशु जैसी सरलता, निश्छल स्नेह और व्यग्रता-सी भरी थी। फिर उसने अपनी गर्दन तनिक ऊपर को उठा कर अपने हाथ से मेरे हाथ को दबाते हुए धीरे से इतना ही कहा "अब···सो जाओ।"

"नहीं·······"मैंने उसके कान में धीरे से उत्तर दिया।

वह फिर उसी प्रकार बोली "मेरे कहने से सो जाओ।"

उसे फिर ठीक से कपड़े उढ़ा कर मैं आपने स्थान पर चला गया। मैंने एक बार खिड़की खोल कर बाहर की ओर देखा। वही अन्धकार, वही निस्तब्धता चारों ओर व्याप्त थी। लालटेन को और भी धीमा कर मैं स्मृतियों की करवट लेता हुआ बिछौने पर पड़ गया। आज बहुत दिनों के पश्चात मुझे अनुभव हुआ जैसे सिर का एक बहुत बड़ा बोझ हल्का हो गया है। पड़ते ही मैं कल्पना के मधुर स्वप्नों की उड़ान भरने लगा।

दस

आज पौड़ी में हमारा सातवाँ दिन था। इस बीच सरकारी अस्पताल में सुजाता का डाक्टरी मुआयना भी पूरा हो गया। लगातार दो दिन तक सुजाता को रक्तमिश्रित बलगम आता रहा। इस बीच उसके फेफड़े की रिपोर्ट भी मिल गई। ऐक्स-रे की मशीन के अभाव में पूरा खाका तो जाना नहीं जा सका किन्तु सर्जन ने बताया कि कैन्सर का फोड़ा फूट चुका है। यह एक असम्भावित बात थी कि एक।एक कैन्सर का फोड़ा फूट गया, क्योंकि इस रोग के रोगी की मृत्यु ही फोड़ा फूटते समय हो जाती है। डाक्टर ने हमें जो कुछ बताया उसका अर्थ यही था कि अब सिर पर आई मौत टल चुकी है।

फिर भी खतरा दूर हो गया, इसमें उसने शंका प्रकट की। उसने बताया कि फोड़ा फूट जाने पर भी कुछ निश्चय से नहीं कहा जा सकता। उतनी बड़ी व्यवस्था यहाँ के अस्पताल में तब तक नहीं थी कि आपरेशन किया जा सके।

मैंने जब कुमार साहब के कान में डाक्टर वाली बात बताई तो एक बार वे खुशी से पागल-से हो गए किन्तु तत्क्षण ही आगे की बात सुन कर उन्होंने आँखें दूसरी ओर फेर लीं। अब आगे की क्या व्यवस्था होगी, सुजाता के रोग की ओर से पूर्ण निश्चिन्तता कैसे मिलेगी, इसी सोच में वे डूब गए।

मैंने उन्हें सलाह दी "क्यों न हम रोहतक के अस्पताल में ले जाकर इनकी परीक्षा करायें। सुना है कि वहां विशेष रूप से कैन्सर का एक अस्पताल खुला है।"

"यहां से वापस लौटना क्या ठीक रहेगा ?" वे बोले।

मैंने कहा "किसी की जीवनरक्षा सर्व प्रथम है। घर से भी आप

यात्रा के ही लिए चले थे, ऐसा नहीं कहा जा सकता। फिर यदि आपको वापस भी जाना पड़े तो इसमें क्या हानि है?"

"हानि तो कुछ नहीं" वे बोले "आप इस बारे में सुजाता से ही पूछ देखिये।"

"हाँ" मैं बोला "मैं अभी बात करूँगा।"

उसी शाम मैं डाक बंगले से फलों के बगीचे की ओर जाने वाली सड़क पर सुजाता को टहलाने ले गया। वह बहुत दिनों के बाद आज प्रसन्न थी। उसके रूखे-से लगने वाले चहरे पर एक चमक थी, उसकी आंखों में एक बहाव था।

मैंने उससे कहा "अब तुम कैसी हो?"

ओठों पर एक मद्धिम-सी मुस्कान लाती हुई वह बोली "मैं जानती हूँ, आप मुझे मरने नहीं दे सकते। मुझे पहले ही विश्वास था कि ऐन मौके पर आप मौत से भी लड़ कर मुझे मांग लेंगे, सो वही हुआ।"

कुछ क्षण ठहर कर, मन्द गति से आगे की ओर कदम बढ़ाते हुए उसने पुनः कहना प्रारम्भ किया "उस दिन बड़ी ज्यादती मैंने आपके साथ की थी, किन्तु आपने भी कोई कसर न छोड़ी। बाद में जब अपनी भूल समझने योग्य चेत हुआ तब आपको मैंने अपना सर दबाते हुए पाया। जानते हैं न, तब मुझे कितनी प्रसन्नता हुई थी?" उसने उल्लास के आवेग को एक लम्बी सांस के साथ प्रकट करते हुए तनिक जोर से कहा "तब मेरी आधी रुग्णता तत्काल दूर हो गई थी। रही-सही अब हो जायेगी।"

"हाँ अब तुम ठीक हो जाओगी" मैंने स्नेह के साथ उसे देखते हुए कहा, "तुम्हें अब यात्रा त्याग कर वापस लौटना होगा। तुम्हार पूर्ण निरोग्यता के पश्चात् हम पुनः इस यात्रा को पूरी करेंगे।"

उसने अत्यन्त ही अनुरोध के स्वर में कहा "अब मैं किसी बाह्य उपचार का अवलम्ब न लूँगी। मैंने पूरी तरह से अपने को अखिल-ब्रह्माण्ड के नियन्ता को सौंप दिया है, जिसने आशा के विपरीत आज

तक मेरे जीवन की नाव खेयी, वह आगे भी खेता रहेगा। घर से अनन्त यात्रा पथ पर चले थे, अब उससे पीछे हटना नहीं। आप जैसे अडिग व्यक्ति को जिस रूप में बाँधने की मैंने चेष्टा की थी, वैसी भूल अब मैं नहीं करूंगी। आपके मार्ग के कांटे चुनने में ही अब आत्मिक शान्ति होगी। इसी में सन्तोष भी मुझे मिलेगा।"

"देखो जिद करना ठीक नहीं" मैंने उसकी पीठ पर स्नेह का हाथ फेरा "अब अपना जीवन तब तक के लिए मुझे सौंप दो, जब तक कि उस में हरियाली नहीं आ जाती।"

वह बोली "जीवन तो मैं समर्पित आपको कर ही चुकी हूं, तभी तो पीछे हटने की बात मैं नहीं सोचती। रही हरियाली आने की बात, सो वह आ ही जायेगी, यदि आपकी छाया मिलती रही तो।"

मुझे आश्चर्य हो रहा था कि उसमें इतनी सशक्त भावना किसने भर दी और यही देखने के लिये मैंने एक बार उसके उद्भासित मुख की ओर देखा, वह सर्वथा बदली हुई दिखाई दी। उसमें जहाँ पहले एक अतृप्ति, एक मदान्धता एवं एक प्रबल आतुरता-सी भरी थी वहाँ आज वह शिखर के समान दृढ़, योगिनी के समान सर्व त्यागिनी एवं गंगा की कल-कल करती अजस्र धारा के समान पवित्र लगती थी। उसकी गम्भीरता न टूटी तो मैंने अधीर भाव से उसके कन्धे को झिझोड़ेत हुए कहा "सुजाता मेरी बात न टालो। पगली ! तुम इतनी नैराश्यमयी क्यों हो गई हो। तुम्हारे लिये मैंने अपने निश्चयों को मोड़ दे दिया, मैंने पाषाणों की प्रकृति से अपना सम्पूर्ण प्रेम छीन कर तुम पर न्यौछावर कर दिया और यह सब केवल इसलिये किया कि तुम ठीक हो जाओ, पर तुममें इतना परिवर्तन देख मुझे डर लगने लगा है।"

धैर्य के साथ मेरी सम्पूर्ण बातें सुन कर उसी अधीरता से उत्तर देते हुए सुजाता बोली "आपके सिद्धान्त की, आपके लक्ष्य की हत्यारिणी बन कर जीने की अपेक्षा मौत को लाख दर्जे हितकर समझूंगी। अब मेरी समस्त अज्ञानता दूर हो गई है, इस कारण आप जहाँ मार्ग भूल

जाएं वहाँ आपको सचेत करना भी मेरा कर्त्तव्य है।"

अनेक प्रकार के कर्त्तव्यों का स्मरण कराने और समझाने पर भी वह अड़ी रही। रोहतक अस्पताल की चर्चा मात्र से उसने मुँह सिकोड़ लिया और स्पष्ट कह दिया कि बढ़े हुए कदम कदापि पीछे नहीं हटेंगे।

निदान उसे उसी प्रकार सहारा दिये मैं लौट आया। अभी डाक बंगला कुछ आगे था, उसने इसी बीच कहा "अब मैं ठीक हूँ। पहले जिस प्रकार मेरे पेट में एक दावानल-सा सुलगता रहता था, वह न जाने कैसे शान्त हो गया है। मामूली-सी पीड़ा तब अनुभव होती है, जब कभी खाँसी का दौरा उठता है।" कुछ क्षण चुप रहने के पश्चात उसने गला साफ किया और फिर कहा "आप तो जानते ही हैं, रानी माँ तीर्थ यात्रा के उद्देश्य से इतनी दूर से चल कर आ रही हैं, और यह निश्चित है कि जब तक मैं खड़ी न हो जाऊँ वे अपने लक्ष्य पर न बढ़ेंगी। उनका मातृत्व देख मुझे अपनी माँ की वह पुरानी याद ताजा हो उठती है। अनायास ही राह चलते परिचय में उनका अपनत्व कितना बढ़ गया यह देख उनके प्रति हृदय श्रद्धा से भर उठता है। और बेचारी नर्मदा! वह तो अपने शोक-सन्तप्त मन की शान्ति के लिये चली थी, कहाँ यह एक नया सन्ताप ले बैठी। कभी-कभी यही सोच कर ग्लानि से भर उठती हूँ कि आप सब की इस आत्मीयता का क्या बदला मैं चुकाऊँ?" उसकी आँखें मामूली-सी भर आई थीं, और स्वर भारी हो गया था। उसने अनुरोध भरे स्वर में आगे कहा "अब आप शीघ्र से शीघ्र यहाँ से प्रस्थान की बात सोचिये। रानी माँ के नेम-धर्म की दीवार बनने के कारण मैं स्वयं को दोषी समझ रही हूँ।"

उसके निर्णय के आगे हार मान कर मैंने दुःखी मन से कह दिया "अच्छा! तो फिर ऐसा ही होगा।" और हम डाक बंगले के अहाते में प्रविष्ट हो गए। कुमार साहब पाइप पीते हुए आँगन में बेसब्री से टहल रहे थे। हम दोनों को देखते ही उनका प्यार छलक पड़ा।

सुजाता के पास आ, प्यार से उसकी लटों पर उंगलियाँ चलाते

हुए उन्होंने कहा—"घूम आईं बेटा ?"

"हाँ, डैडी" वह प्रसन्नता के स्वर में बोली, और शीघ्र ही बच्चों जैसे अन्दाज़ में उसने कहा "अब यहाँ से चलो डैडी ! हमारा मन यहाँ नहीं लगता।"

"हाँ बेटा !" उन्होंने मेरी ओर एक दृष्टिक्षेप करते हुए उसकी बात का उत्तर दिया, "अब हम चल ही पड़ेंगे।"

उन्होंने मेरी ओर जिस आशा के साथ दृष्टिपात करते हुए सुजाता को उत्तर दिया था, उसका अर्थ समझते हुए मैंने कहा "कुमार साहब ! इन्होंने ईश्वर की झोली में अपने आपको सौंप दिया है, अब डाक्टरी उपचार पर इनका विश्वास नहीं रहा।"

"फिर ?" उन्होंने मेरी ओर देखते हुए प्रश्न किया।

मैंने सहज भाव से उत्तर देते हुए कहा "कुमार साहब ! आत्म-विश्वास के अभाव में कोई उपचार संभव नहीं, और ऐसे किसी भी उप-चार पर इनकी आस्था अब नहीं है, जो अप्राकृतिक हो, इसलिये इसमें कोई भी गुंजाइश अब नही है।"

कुमार साहब क्षण भर के लिये गंभीर हो गए। तब तक नर्मदा ने रानी माँ को हमारे लौट आने की सूचना दे दी। वे सम्भवत: तब आटा गूँथ रही थीं, आटे के सने हाथ लेकर ही दौड़ी आईं। उन्होंने अधीर होते हुये कहा "अरे तुम सब कितने पागल हो। टहलने गये थे तो कुछ पेट में डाल कर तो जाते !"

"रानी माँ !" मैंने स्नेह के स्वर में कहा "ऐसे क्या सदा ही आप हमारा ध्यान रखेगीं।"

एक हल्का-सा तमाचा मेरे मुँह पर लगातीं हुई वे बोलीं "हाँ बच्चा ! क्या तू नारियों को इतना कृपण समझता है ? पागल ! आज तक इतना भी नहीं जान पाया है। नारी न होती तो पुरुष बेसहारा हो जाता।"

"यह मेरी बात का उत्तर तो नहीं है रानी माँ !" मैंने कहा।

"हाँ रे हाँ" उनकी हँसी फूट गई, बोलीं "हाँ बेटा मौका दोगे तो

इसका जवाब दूँगी।" और फिर वे हमें सभी को धकेलती हुई कमरे में ले आईं। आते ही उन्होंने नर्मदा से कहा "नमि! बच्ची, वह चाय तो लाना जरा!"

वह चली गईं तो उन्होंने फिर कहा "हाँ वह खजूर भी लेती आना बेटा!"

अपने आटे के सने हाथों को बिना धोये ही वह तब तक बैठी रहीं, जब तक हम सब ने नाश्ता न कर लिया। उन से नाश्ता करने के लिये कहा तो वे साफ टाल गईं।

मैंने हाथ में एक खजूर लेकर कहा "माँ आज तो भले ही सौ बार बुरा कहो तुम्हारा धर्म बिगाड़ कर ही रहूँगा।" और मैंने जबरदस्ती वह खजूर उनके मुँह में डाल दिया। वे ना-ना करती रहीं, पर क्या करतीं निगल जाने के सिवा चारा भी कोई नहीं था। मेरे इस प्रयास पर सुजाता दिल खोल कर हँसी।

रानी माँ ने कहा "सच में बेटा आज तो तुमने भगवान के घर का दोषी मुझे बना डाला। बिना पूजा किये क्या मैं अन्न ग्रहण करती थी? पर अब चारा ही क्या है?"

"चारा तो है माँ!" मैंने कहा "जब आपने एक अपराध कर ही लिया, तब उसमें कसर ही क्यों छोड़े।" यह कह कर मैं उन्हें कई खजूर खिला गया। कुमार साहब और सुजाता ने तालियां बजा कर ठहाके लगाये। नर्मदा भी रुक न सकी, दीवार की ओर मुँह किये स्निग्ध हास्य बिखेर रही थी।

न जाने कहां से इतना साहस उस दिन मैं बटोर पाया, कोने में खड़ी नर्मदा की ओर घूम कर मैंने निर्भय हो कह दिया "सुना है आप तो कट्टर धार्मिकता की पृष्ठपोषक नहीं हैं। फिर आप ही क्यों आज के प्रसाद से वंचित होती है। आइये बस!"

"हाँ दीदी," सुजाता ने कहा "अब आ भी जाओ। ऐसा मौका क्या बार-बार मिलता है!"

"बस सुजा" इन्कार-सा करती नर्मदा बोली "मेरी इच्छा नहीं है।" उसने झेंप और झिझक के भाव में अपनी गर्दन जमीन पर गड़ा दी।

मैंने टोकते हुए कहा "आप भला मानें या बुरा। आज तो मैं जबरदस्ती का आधार लेकर चल रहा हूँ। यदि बल प्रयोग से धर्म परिवर्तन वाली बात आप को ठीक लगती है तो फिर मुझे बाध्य हो कर वही कुछ करना पड़ेगा।"

वह पशोपेश में थी, और हल्की-सी मुस्कान रेखा उसके ओठों पर खिंच गई थी। रानी माँ भी कुछ देर तक उसकी ओर देखती रही और अन्त में उन्हें कहना ही पड़ा "नमि! बेटा ऐसे जान तो बच नहीं सकेगी। आ मुँह तो जूठा कर ले।"

झिझकती हुई वह हम लोगों के बीच बैठ गई और अपनी पतली उंगलियों से एक खजूर उठा कर चबाना प्रारम्भ किया। फिर एक ग्लास पानी पी कर शिष्ट अभिवादन जताती वह एक ओर को बैठ गई।

बहुत दिनों तक चिंताग्रस्त रहने के बाद आज हमारे इस यान्त्रिक परिवार में हास्य-ध्वनि गूँजी थी, और सभी के चेहरों पर एक निश्चिन्तता की झलक थी।

इस प्रकार आधी रात तक हम बातें करते रहे। हममें से सभी के चेहरे खिले हुये थे। लगभग बारह बजे हम सभी रानी मां के कड़े आदेश के कारण अपने-अपने बिछौनों पर पड़ने के लिये बाध्य हो गये। वह संध्या और वह रात्रि मेरे जीवन की मधुर संध्या और स्वर्ण-रात्रि बन कर आज भी जीवित है।

अगले दिन वहाँ हमने विश्राम किया और उस दिन शायद बुधवार था, जब हमने अपनी अगली यात्रा प्रारम्भ कर दी। यद्यपि रानी माँ और नर्मदा ने भी सुजाता की इस यात्रा का विरोध किया, किन्तु वह अब पहले जैसी सुजाता न रह गई थी। दृढ़ता की उस मूर्ति ने अपने जीवन को मोम के स्थान पर इस्पात के साँचे में ढाल लिया था। उसने अपनी जीवन रूपी नौका को अनजान लहरों के सहारे छोड़ दिया था। वह

अब एक ऐसी तीव्र जलधारा के समान हो गई थी, जो निरन्तर मार्ग की बाधाओं को चीरती हुई आगे ही बढ़ी जाती है, पीछे नहीं लौटती।

उस दिन सुबह से ही आकाश में काली घटाएं तैर रही थीं। हवा के हल्के-हल्के झोकें ऊंचे हिम शिखरों का आलिंगन कर वातावरण में शीतल स्निग्धता भर रहे थे। पौंड़ी पहाड़ों के एक प्राकृतिक गढ़ में बसी हुई है और इसीलिये प्रायः तीन मील का मार्ग तयकर लेने पर भी शिखरों के परकोटे एक के बाद एक आते रहे। हम उन्हें लाँघते रहे और यह क्रम चलता रहा। तीन मील का साधारण-सा चढ़ाव पार कर हम गढ़वाल की एक छोटी किन्तु तीव्र धारा वाली नदी को पार कर आगे बढ़े। उसके पश्चात् एक छोटी-सी चढ़ाई के उपरान्त जब हम चोपड़ा की चट्टी पर पहुँचे तो हल्की सी फुहारों ने हमारी सारी थकान हर ली। यहाँ अधिक बड़ी बस्ती नहीं है किन्तु प्रकृति के हरे आंचल में बसे होने के कारण पहाड़ी घुमावदार सड़क के दोनों किनारों पर चादरें बिछाये खिलौने, चोटियाँ, कंघे एवं शीशों की छोटी-छोटी दुकानें सजी पड़ी थीं। कहीं पत्थर के अस्थायी चूल्हे लगे थे। पकौड़े और तेल की जलेबियाँ तैयार हो रही थीं। वहाँ ग्रामीण महिलाओं और बच्चों की भीड़ खड़ी दिखाई देती। नव वधुओं ने ऊँचे घेरदार लँहगे पहन रखे थे जिनमें सलमें की गोटें चढ़ी हुई थीं, और घुटनों से वे बहुत नीचे तक इस प्रकार झूल रहे थे कि पैरों में पड़े चाँदी के गहने उससे छिप गये थे। सिर पर उन्होंने रंगीन ओढ़नियाँ ओढ़ी थीं जिन्हें वहाँ की भाषा में पिछौड़ा कहा जाता है। उनका रंग प्रायः पीला-सा और उसके ऊपर लाल रंग की गोल-गोल टिकलियाँ छाप दी गई थीं। उनके हाथ लाल रंग की चूड़ियों से भरे हुए थे और नाक पर सोने की नथें झूल रहीं थी, जो हल्के से घूंघट के कारण कभी-कभी दिखाई दे जातीं। वे प्रायः धीमे स्वर में आपस में बातें करतीं किसी चीज को लेने या न लेने के लिये मोल भाव करतीं या किसी बात पर उन्मुक्त हो खिलखिला कर हँस पड़तीं। तब उनका कल्लोल वहां के युवकों को क्षण भर के लिये अपनी ओर खींचे

बिना न रहता। एक साथ कई उचटती आंखें उन पर छा जातीं और दूसरी ओर से प्रत्युत्तर के स्थान पर हँसी के ठहाके सुनाई देने पर उन्हें निराश हो कोई लोक गीत छेड़ कर अपने मन को बहलाना पड़ता।

हम लगभग आधा घण्टा वहाँ ठहर कर ग्रामीण मेले को देखते हुए अपनी यात्रा पर चल पड़े। चोपड़ा चट्टी पर से उतार प्रारम्भ होता था और फिर आने वाली थी पवित्र अलखनन्दा जिसकी अक्षयकीर्ति में संस्कृत के कितने ही कवियों ने अपनी लेखनी को अमर कर दिया। कितने ही भोगी जिसकी शान्त सरस और मन को एकाग्रता के सूत्र में बाँध देने वाली सुन्दरता पर मोहित हो योगी बन गये थे।

गहन वन से आगे बढ़ कर जब गहराई में कल-कल वेग से बहती अलखनन्दा की झाँकी देखी तो वहाँ तक पहुँचने को हम व्यग्र हो गए। दूर से बड़े-बड़े खेतों, शिलाखण्डों एवं अपने तट के छोटे-छोटे वैम-वृक्षों को हरितिमा प्रदान करती वह इसी प्रकार आगे बढ़ रही थी मानो दूसरों को जीवन देने के लिये ही उसका प्रादुर्भाव हुआ हो। रानी माँ ने श्रद्धा से उस ओर मस्तक झुका कर प्रणाम किया। कुमार साहब ने भी उसका अनुकरण किया किन्तु नर्मदा चुपचाप चलती रही जैसे वह पदयात्रा करने आई हो।

उतार पर उतरते समय एक छोटी सी घटना हो गई, और वह घटना इतनी आकस्मिक थी कि उसके लिये मैं दोषी न होते हुए भी ग्लानि से भर गया।

उस दिन सुजाता ने एक सफेद-सी साड़ी बाँधी थी और नर्मदा ने भी लगभग उसी रंग की कोई साड़ी पहनी थी। वे दोनों कदम बढ़ाए कभी कुमार साहब व रानी माँ के साथ कभी पीछे-आगे चली जा रही थीं। मैं इन सभी से पीछे था। और चारों ओर को बिखरी प्रकृति का दिग्दर्शन करता आराम से चल रहा था। तभी एक सुन्दर से लाल रंग के फूलों से लदे वृक्ष को देख कर मैं ठहर गया। मैंने सोचा कुछ फूल तोड़ कर, स्वयं आज सुजाता के जूड़े में बाँधूँगा। इसी आशय से मैंने

फूलों को तोड़ उनका एक गुच्छा-सा तैयार किया फिर आगे बढ़ गया। मैं चाहता था कि यदि सुजाता मुड़ कर पीछे देखे तो मैं उसे रुकने का संकेत करूँ और तब उसके जूड़े में यह फूल लगा दूँ। मैं स्वयं नहीं जान पाया कि मेरे इस विचार में कौन-सी भावना छिपी थी, किन्तु उसके प्रति एक अपनत्व की भावना इसमें अवश्य थी। वे लोग अब ढलान से दूसरी सहायक चोटी की ओर मुड़ गये थे, इस कारण निकट होने पर भी दिखाई न दिये।

मैं कुछ ठहर गया और कई दिनों के पश्चात एक सिगरेट निकाल कर पीने लगा। उसका धुँआ उड़ाता, फूल के उस लाल लाल गुच्छे को देखता हुआ आगे बढ़ने लगा। जहाँ से मार्ग सहायक शिखर के दर्रे की ओर मुड़ता था, वहीं एक छोटा-सा सोता था और एकाएक मार्ग की ओर मुँह फेर कर खड़ी मुख मार्जन करती सुजाता को देख, मैं हृदय की प्रसन्नता को दबा न सका। मन ही मन मैंने सोचा, वह मेरा कितना ध्यान रखती है! सम्भवत: मैं अकेला चल रहा हूँ, यही अनुभव कर मुख मार्जन के बहाने वह पीछे रुक गई है। अभी उसका विचार यही था कि मैं काफी पीछे हूँ तभी उसे मेरे एकाएक आ जाने का आभास भी न हो सका। उसे उस प्रकार खड़ी देख, न जाने किस प्रकार मैं उच्छृंखल हो दौड़ कर पास पहुँच गया और मैंने उसकी आँखें तेजी से बन्द कर दीं। उसके छटपटाने की ज़रा भी चिन्ता न कर मैंने वे फूल उसके जूड़े में बाँधने चाहे पर, आज उसने जूड़ा ही न बाँधा था यह देख मन को कुछ दु:ख अवश्य ही हुआ। फिर भी मैंने पीछे से ही उसकी ठोड़ी की ओर हाथ बढ़ाया तो मेरे मुँह से चीख निकल कर रह गई। कोई कल्पना करेगा कि वह सुजाता नहीं हो सकती? किंतु जो बात सत्य हो उसमें कल्पना क्या? वह नर्मदा थी!

मैंने जब उसकी ओर दृष्टिपात किया तो ग्लानि के मारे मैं नजरें ऊँची न कर सका, और उसकी नजरें तो कभी ऊँची उठती मैंने देखी ही नहीं, फिर आज क्या वे ऊँची उठतीं! मैंने अनुभव किया वह थर-थर

काँप रही है, और एक अव्यक्त भय के मारे उसके कुन्दन सदृश चेहरे का रंग फीका पड़ गया है, किन्तु इस पर भी उसके माथे की रेखाओं में बल पड़ गए हैं। वह क्रुद्ध भाव में तेजी से पैर उठाए एक ओर को निकल कर मार्ग पर आ गई और मैं ठगा-सा खड़ा रह गया। 'भई गति साँप छछुन्दर केरी' वाली उक्ति मुझ पर पूर्ण रूप में चरितार्थ हो गई। मेरे सामने एक अजीब समस्या थी। यदि मैं उससे क्षमा माँग कर यह कहूँ कि आपके प्रति ऐसा भाव मैं कदापि नहीं रखता तो, बिना सुजाता की चर्चा किये कैसे उसे मेरी बात का विश्वास होगा, और यदि सुजाता की चर्चा करूँ तो कैसे करूं? कोई हल मस्तिष्क में न आया। पीछे मुड़कर देखा तो क्रोध में उसके कदम काफ़ी दूर उसे बढ़ाकर ले गए थे, और कुछ दूरी तक वह भयभीत के समान दौड़ती हुई गई थी।

क्या मैं वापस लौट जाऊँ? पर आत्मा के साथ इससे बड़ा और धोखा क्या हो सकता है? इस प्रकार सदा के लिये उन सभी की दृष्टि से मेरा यह स्वरूप इतना घृणित हो जायेगा कि मेरा नाम लेते भी उन्हें लज्जा अनुभव होगी। मेरे कुविचारों की चर्चा करते हुए वे कहेंगे—

मन मलीन, तन सुन्दर कैसे।
विष रस भरा कनक घट जैसे॥

ओह!! भावी अपमान की ज्वाला से मैं जला जा रहा था। कितने लांछन, कितने तिरस्कार मुझे सहने होंगे, यह स्मरण कर किसी शिखर से कूद कर स्वयं को समाप्त कर देने की इच्छा होती। कितना कपट है मनुष्य में, कितना धोखा और छल है। महान चरित्र का ढोल पीटने वाला, आदर्श पुरुष कहलाने की इच्छा रखने वाला इन्सान, मन की एक लहर पर नियंत्रण नहीं पा सकता? कितनी बड़ी विडम्बना है यह। जिस मन की पवित्रता ने सुजाता के प्रणय-आमंत्रण को इसीलिये ठुकरा दिया कि यह मनुष्य से देवता के स्थान पर प्रतिष्ठित हो, वाह-वाह कहला कर झूठा, आडम्बर-पू ` यश लूटे, महान कहलाये······ वह स्वयं इस प्रकार उच्छृंखल हो क्षण भर में अपनी प्रतिष्ठा खो बैठा?

कहाँ गया उसका आध्यात्म, कहाँ गयी वह प्रेरणा ? क्या वह सब एक ढोंग था ?

मेरी आँखों में अश्रु कण तैरने लगे। मन ने कहा : अपने अन्तर के दानव समेत स्वयं को भी समाप्त कर दे, तभी आत्मा शान्ति पा सकेगी। पर क्या सुजाता के लिये भी मैं एक अस्मरणीय पहेली न बन जाऊँगा ? वह क्या सोचेगी ? यही न कि आत्मनियंत्रण एक ढकोसला है, मनुष्य एक वहशी प्रकृति का नाम है........और कि मैं छल, कपट की मूर्ति हूँ। हाँ, शायद वह इससे भी बुरा मुझे समझेगी। मैं सभी कुछ सहन कर सकूँगा। वह लाँछन, वह तिरस्कार सहना बुरा न होगा किन्तु एक बार सुजाता के मन से यह बात दूर किये बिना मेरी आत्मा शान्ति न पा सकेगी। यही निश्चय कर कि जो होगा, देखूँगा—मैं रूमाल से आँखें व मुँह पोंछ आगे चल पड़ा।

नीचे अलखनन्दा का जल एक गति के साथ, पाषाणों से टकरा कर निचाई की ओर अग्रसर हो रहा था। उसके बीच में खड़े पत्थरों की गति स्थिर हो गई थी और उनकी जड़ों में हरी-हरी काई जम गई थी। उस वेगमान धारा के बीच अचल भाव से खड़े उन पाषाण खण्डों को देख कर लगता, मानो वे उससे पराजित हो हाथ बाँधे खड़े हों, और जलधारा उन्मत्त हो उनकी कठोरता की उपेक्षा-सी करती हुई निर्द्वन्द आगे बढ़ गई हो।

अलखनन्दा के तट पर, सघन देवदारों की छाँव तले कुमार साहब, रानी माँ और सुजाता सहित नर्मदा आदि बैठे कल-कल करती उस हिम सरिता को तन्मय हो देख रहे थे। पास ही लछुआ और रानी माँ के नौकर बीड़ी का धुआँ उड़ा रहे थे।

मेरा उन सब से दृष्टि मिलाने का साहस न हुआ, ओह ! अब मेरी समस्त प्रतिष्ठा, समस्त सम्मान क्षण भर में ही काँच के प्याले के समान छितरा कर नष्ट हो जायेगें। फिर भी अपराधी के समान मैं, उनके पास पहुँच गया।

जाते ही कुमार साहब ने उसी चिर-परिचित मुस्कान के साथ कहा "भई, आप तो अब थक गए लगते हैं। काफी पीछे छूट गये थे—!"

मैंने सिर नीचे किये ही उत्तर दिया—

"नहीं मैं आज जरा धीरे ही चल रहा था।"

रानी माँ बोली "बेटा, भूख तो नहीं लगी।"

"आज न जाने क्यों भूख ही नहीं लग रही" मैंने साधारण भाव से उत्तर दिया।

"क्यों क्या, जी ठीक नहीं है ?"

"हाँ माँ" मैंने कहा।

वे मेरे पास सरक आई और उन्होंने मेरा माथा दबाना प्रारम्भ कर दिया। मैं नहीं-नहीं करता रहा, किन्तु वे स्नेह से माथे को दबाती गई। मुझे आश्चर्य हो रहा था। तो क्या अभी तक नर्मदा ने कोई बात नहीं बताई ? संभव है, उसने सुजाता से यह बात कही है, तभी तो वह नर्मदा के पास बैठी, बिना मेरी ओर देखे बातें कर रही है। और नर्मदा ने तो मेरी ओर पीठ फेर दी थी। उसकी कमर तक लहराते केशों को देख मुझे कुछ देर पूर्व की वह घटना याद हो आई और मैं चौंकते-चौंकते रुक गया। किन्तु सुजाता वाली बात भी निर्मूल लगी, क्योंकि वह रानी माँ के पास आकर कनखियों से मेरी ओर देखती बोली "माँ ! क्या लड़कियों का दिल नहीं चाहता कि माँ उनको भी प्यार करे, पर न जाने क्या बात है कि लड़कों को जितनी छूट मिलती है वह लड़कियों को नहीं।" साथ ही वह हँस पड़ी।

उसने एक बार कनखियों से मेरी ओर देखा, और फिर वह रानी माँ की ओर देखने लगी।

रानी माँ ने भी हँस कर उत्तर दिया—"बेटी, माँ का मन तो सबके लिये एक जैसा ही होता है, पर तुम्हीं लोग ऐसी धारणा बना लेते हो। आ तेरा भी सर दबा दूँ।"

"अब तो यों ही आप पीछा छुड़ाना चाहती हैं" कहकर सुजाता

पीछे हट गई।

कुमार साहब रानी माँ से बोले "अभी बचपना नहीं गया है इसका।"

रानी माँ मुस्करा दीं "आपकी तरह सभी का बूढ़ा हो जाना—क्या अच्छा है ?"

कुमार साहब इस बात पर हँस पड़े और सभी ने उनका साथ दिया।

मुझे आश्चर्य था नर्मदा पर। तो क्या वह सारी बात को पी गई ? मेरी प्रतिष्ठा, मेरा आत्म-सम्मान कहीं गया नहीं ? मैंने गौर से उसकी ओर देखा वह अब भी इस ओर पीठ फेरे बैठी थी।

कुछ देर और विश्राम करके हम अलखनन्दा के किनारे-किनारे आगे बढ़ने लगे। गढ़वाल के पर्वतीय राजाओं की प्राचीन राजधानी श्रीनगर की झाँकी दूर से ही दिखाई दे रही थी। अलखनन्दा के तट पर बसी वह रमणीय नगरी चारों ओर से हरी-भरी घाटियों से घिरी ऐसी ही लग रही थी, मानो अंधकार भरी रात्रि में जुगनुओं का झुंड अपने क्षीण प्रकाश से अंधकार की काली चादर में सलमे सितारों के समान चमक रहा हो। एक छोटा सा जल प्रपात जिसका पानी बह कर, बाद में अलखनन्दा में आ मिलता, दूर से दुग्ध धारा सदृश दिखाई दे रहा था। उसकी अपनी ध्वनि अलखनन्दा के सिंहनाद में विलीन हो गई थी। मार्ग में हमें श्रीनगर से आने-जाने वाले कई यात्री मिले। खच्चरों पर सामान लाद कर ले जाते कई लोग हमने देखे और समझा कि श्रम में पुरुष से अधिक भाग लेने पर भी पर्वतीय नारी किस प्रकार घर की चहार दिवारी से बाहर पुरुष की दया पर आश्रित है। वहाँ बहुधा अपने पीहर जाती, या वहाँ से वापस आती पर्वतीय नारियां हमने देखीं जो पुरुष के पीछे, घूँघट निकाले, बच्चों को गोद में लिये, और सिर पर गठरी लादे नंगे पैरों चली जा रहीं थीं। उनके आगे पुरुष बीड़ी का धुवां उड़ाते, इसी प्रकार चलता दिखाई देता मानों वह नारी का एक

छत्र सम्राट, उसका ईश्वर, उसकी मर्यादाओं को बनाने बिगाड़ने वाला हो। या वह किसी भेड़ को हांक कर लिये जा रहा है, और भेड़ इसे अपना धर्म मान चुपचाप उसका अनुसरण कर रही हो।

अलखनन्दा के तट से होते हुए उस दिन हम सूर्यास्त से काफी पहले श्रीनगर पहुँच गए। यद्यपि हम चाहते तो और आगे बढ़ सकते थे; किन्तु सुजाता की दशा देख उस रात्रि की वहीं ठहरने का निश्चय किया। किसी सेठ की कृपा से अलखनन्दा के किनारे बनी एक धर्मशाला को हमने अपना बसेरा बनाया। उसमें कमरे आदि न थे, केवल कुछ खम्भों के सहारे एक छत खड़ी कर दी गई थी, उसी पर सेठ जी के नाम का विज्ञापन करता एक पत्थर लगा था, जो इतने अल्प पुण्य में ही उनके यश को बांस पर टांग कर उछाल रहा था।

नाममात्र की उस धर्मशाला में पूर्वागत एक महिला धूनी जलाए, एक ओर को अपना बिछौना बिछाए कोई धार्मिक पुस्तक पढ़ने में व्यस्त थी। वह सम्भवतः बद्रीकेदार की तीर्थयात्री थी और काशी से चाँदी के कलश में गंगाजल चढ़ाने हेतु लाई थी। उसका रंग गोरा था, उसके ओंठों में उसके समस्त शरीर का रंग समा गया था। उसकी आँखें स्वयं में न जाने कितने आसमानों की नीलिमा छुपाए थीं। सर से पैर तक उसे देखने पर बस इन्द्रधनुष याद हो आता और लगता जैसे इन्द्रधनुष की रेखाओं का समस्त रंग इस नारी में है, जो पूर्ण युवा न होने पर भी यौवन की अधिकार सत्ता को चुनौती देती जान पड़ रही थी। उसने नीले रंग की मोटे किनारों वाली साड़ी पहनी थी और एक छोटे से तंग ब्लाउज़ के ऊपर सर्दी से बचने के लिये गहरे लाल रंग का स्वैटर धारण कर रखा था। उसके पास सामान अधिक न था। कुछ ओढ़ने के कम्बल और कपड़े तथा एक गंगाजल भरा कमण्डलु सदृश रजत कलश जिसे सुरक्षित रखने के लिये मुँह के पास मिट्टी से लीप दिया गया था।

हमें देखते ही वह सम्हल कर, अपने अस्तव्यस्त वस्त्रों को सहेजती

हुई खड़ी हो गई। रानी मां की ओर देख उसने अपनी मीठी, महीन आवाज़ में कहा "आओ बहन आओ! मैं तो सोचती थी कि यहां अकेले ही रात काटनी होगी, पर भगवान सभी की सुनता है।"

रानी माँ, सुजाता और नर्मदा उसके पास बैठ गए। मैंने मजदूरों के सर से बोझ उतरवा कर जगह ठीक की और बैठने के लिये कपड़ा बिछाया।

औरतें शीघ्र ही एक दूसरे से परिचित हो जाती हैं। क्षणभर में एक दूसरे की जानकारी प्राप्त कर, मित्रता कर लेना उनका आदि स्वभाव है। रानी मां और उसके बीच कुछ ही देर में बहुत-सारी बातें हो गईं। सामान को करीने से लगाते हुए कुछ मेरे कानों में भी पड़ती रहीं, जो कुछ मैंने सुना उसके अनुसार वह महिला दिल्ली से तीर्थ-यात्रा करने अकेली चली है। उसके पति बर्मा में नौकरी करते हैं। सालभर में एक मास के लिये घर आते हैं, किन्तु कारण विशेष से इस वर्ष न आ सके, अतः वह तीर्थयात्रा पर निकल पड़ी। पहले केदार और फिर बद्रीनाथ होकर दिल्ली लौट जायेगी। यह था वह विवरण, जो रानी मां को उसने अपना परिचय देते हुए बताया था।

मैं सामान को ठीक से लगा रहा था कि तभी सुजाता मेरे पास आ गई। बोली "मैं आपकी कुछ सहायता कर सकती हूँ?"

"धन्यवाद?" मैंने रुष्टता के स्वर में कह दिया। दिन भर में वह दो मिनट का समय भी मुझे न दे सकी, इससे मेरे मन में क्षोभ भरा हुआ था। मैंने दूसरी ओर दृष्टिक्षेप करते हुए धीमे स्वर में कह दिया "आपको बहुत सारे काम होंगे!"

मैंने देखा नर्मदा ने एक उचटती-सी दृष्टि से हम दोनों की ओर देखा, और फिर इस प्रकार दूसरी ओर देखने लगी, जैसे उसने भूल कर भी कभी इस ओर ताकने की चेष्टा न की हो। उसके उस उचटते दृष्टिनिक्षेप में एक हिकारत थी, एवं शंकास्पद भाव स्पष्ट झलकते थे।

अब तक सुजाता मेरी टेढ़ी-मेढ़ी व्यंग्यपूर्ण बातों को समझने की

चेष्टा कर रही थी, जब मेरे अनमनेपन का कारण वह न समझ पाई, तब धीरे से उसने कहा "लगता है आप मुझसे नाराज हैं। क्यों, है न यही बात ?"

मैंने उसी बेरुखी से उत्तर दिया "मैं नाराज होने वाला कौन होता हूँ, और अगर होऊँ भी तो आप को दुःखी होने की क्या आवश्यकता है ?"

"ऐसा न कहिये !" उसने अनुनयपूर्ण स्वर में कहा "आपको नाराज कर, इतने बड़े संसार में मैं कितने दिन जी सकूँगी। दया करके अपनी रुष्टता का कारण तो बताइये !"

"बताऊँगा," मैंने कहा और फिर मैं रानी माँ की ओर चला गया। नर्मदा ने एक बार पुनः वक्र दृष्टि से मेरी ओर देखा। तब मैं एक क्षण के लिए भी उससे आँखें न मिला सका। अभी तक दिन की वह घटना मुझे विस्मृत न हुई थी।

रानी माँ ने उस महिला का परिचय कराते हुए कहा "आपसे मिलो बेटा ! आप हैं कमला देवी ! अब हमारा दल बढ़ता जा रहा है। कल से यह भी हमारी साथिन होंगी।"

मैंने उस महिला को अभिवादन किया, उसने भी उत्तर में हाथ जोड़े। एक क्षण के लिए हम दोनों के नेत्र एक दूसरे पर स्थिर हो गए, किन्तु तभी उसके नेत्रों को देख मैंने अपनी दृष्टि झुका ली। उनमें एक इतना गहरा मादक रस भरा था कि, उसकी शक्ति के आगे आँखें स्थिर रखना कम से कम मेरे लिये तो सम्भव न था। सम्भवतः घोर अतृप्ति और प्रतिहिंसा के से भाव उसकी आँखों में थे। मानो मैं कोई गाजर-मूली होऊँ और वह मुझे खा जाना चाह रही हो, कुछ ऐसा-सा मुझे अनुभव हुआ। यह स्त्री तीर्थयात्रा करने जा रही है, यह मुझे एक अविश्वसनीय-सी बात लगी। इतने बनाव और सिंगार के साथ, घर छोड़ इतनी दूर उसका निर्द्वन्द्व यात्रा करना मुझे कुछ जँचा नहीं। मैंने पुनः उसकी ओर एक बार देखा तो देखने का साहस फिर मुझे न

हुआ। उसका प्रत्येक अंग, उसकी एक-एक साँस से अंगों पर उठने वाला उभार, उसके बोलने का ढंग और उसका एक-एक क्रिया-कलाप दहकते आग के अंगारे से कम न था, जो छूने से पूर्व ही अपनी तपन से देह को झुलसा देता है।

कुमार साहब जो शौचादि से निवृत होने के लिये पीछे रह गए थे, आ गए। उन्हें आया देख मैं खड़ा हो गया, और उनके पास बैठ गया। वे कुछ देर तक इधर-उधर की बातें करते रहे और मुझे अन्य दिनों के अपेक्षा गम्भीर देख के बोले "क्या बात है? आज ऐसे खोये-खोये से क्यों लग रहे हो?"

मैंने सिर हिला दिया "ऐसी कोई बात नहीं, योंही जरा शरीर में कुछ हरारत-सी हो आई है।"

"चाय का काढ़ा ठीक रहेगा" वे बोले।

"हाँ" मैंने कहा "देख लूँगा।"

और फिर मैं उठ कर बाहर निकल, अलखनन्दा की वेगवान लहरों को देखने लगा।

ग्यारह

अगले दिन जब मैं प्रातःभ्रमण के लिए शय्या त्याग कर उठा तो, कुर्ता उतार कर पहनने के पूर्व मैं ने अपनी ऊनी जाकेट की जेब में सिगरेट निकलने के आशय से हाथ डाला। मेरे हाथ में सबसे पहले जो चीज आई वह एक कागज था, भूल से मैंने ही कोई कागज रख दिया होगा, ऐसा सोच मैं सिगरेट जला, कुर्ते पर जाकेट पहन अलखनन्दा के तट की ओर निकल गया।

अनायास ही मेरे मन में एक बात उठी कि वह कागज कैसा है, उसे देख लेने के विचार से उसे बाहर निकाला। यह देख कर आश्चर्य हुआ कि यह पीला कागज कैसे मेरी जेब में आ गया। भोर के झुटपुटे में भी पैन्सिल की लिखी वे लाइनें स्पष्ट दिखाई दे रही थीं। कागज की तह पर उसके एक ओर मेरा नाम लिखा गया था, मैं चौंक पड़ा। यह किसका पत्र हो सकता है? पत्र के दूसरी ओर देखा आरम्भ यों था :—

"आपका नाम मैं नहीं ले सकती, इसका जो भी कारण आप समझें, किन्तु यह सत्य है कि इस बात में कोई कारण छिपा है। उसे आपको बताना मैं संगत नहीं समझती। इतने दिनों से आपको देख रही हूँ, एकाएक आपको बुरा भी नहीं कह सकती; फिर भी मन में जो सन्देह है, उसे दूर करने के लिये ही यह पत्र लिख रही हूँ। यदि कोई भूल हो जाए तो उसे नारी स्वभाव जान कर क्षमा कर दें।

"आपकी बातें कई दिनों के नैकट्य से सुनने को मिली हैं, आपको कभी मैंने साधारण इन्सान सदृश व्यवहार करते नहीं देखा। आपके आचार-विचारों से मन ही मन में आपको श्रद्धा करती रही हूँ किन्तु कल वाली घटना से मेरी उस संचित श्रद्धा को जो आघात पहुँचा है,

उसे मैं व्यक्त नहीं कर सकती। स्त्री के चरित्र को पुरुषों ने सदा ही शंकास्पद समझा है, वह युगों से ही अविश्वासनीय रही है। इसका कारण क्या दया कर बता सकते हैं ? मैं बाह्य आडम्बर नहीं मानती, पूजा, पाठ, तीर्थादि में भी मेरी आस्था नहीं है—किन्तु इसके बाद भी मैं अपनी आत्मा पर, अपने विचारों और अपनी समस्त असद्-भावनाओं पर नियन्त्रण करने का विश्वास लेकर चली थी। भले ही आज के लोग इस बात को न मानें किन्तु मैं यही धारणा रखती आई हूँ कि कोई भी चीज एक बार किसी को समिपत कर देने पर प्रथम तो समर्पक का उस पर कोई अधिकार नहीं रह जाता, दूसरे वह चीज जूठी हो जाती है। मेरे भाग्य जिन्हें भी एक बार समिपत कर दिये गये, दैवयोग से यदि वे मेरा साथ न निबाह सके तो उनकी धरोहर को क्षणिक आवेग में किस प्रकार मैं नष्ट कर सकती हूँ ? किस प्रकार मैं उस श्रद्धा की हत्या कर सकती हूँ जो मेरे भारस्वरूप जीवन की खेवन हार है ? ऐसी स्थिति में एक निराश्रित को सद्मार्ग दिखाने की अपेक्षा उसे भटकाना क्या उचित है ? फिर क्यों पुरुष वर्ग नारी को अविश्वासनीय समझता है, जबकि उसे भटकाने में वह जी जान से लगा हुआ है ? आपको यह पत्र लिखते समय मेरी आत्मा गे रही है, मैं पूछती हूँ कि क्या किसी पवित्र मन्दिर को अपवित्र कर उसे पददलित कर देना ही पुरुषवर्ग की परम्परा है ?

"व्यक्ति महत्वाकाँक्षी और महान् आडम्बर से नहीं, अपितु, वैसे कर्मों से बनता है। वाह्य आडम्बर किसी न किसी रूप में प्रकट हो ही जाता है। जैसे उस दिन वाली उस घटना से आपका उज्वल स्वरूप प्रकट हो गया। इसके उपरान्त भी मैं आपको पूर्णतया दोषी नहीं मानती। मनुष्य के हृदय में अच्छे-बुरे भाव आते ही रहते हैं, आप भी उन्हीं के बहाव में आकर ऐसा कुछ कर बैठे यही मेरी धारणा है। यदि स्थायी रूप से ऐसा विचार हो कि मुझ जैसी औरत को आप विचलित कर अपना अभीष्ट सिद्ध कर लेंगे तो यह आपकी भूल होगी। मैं दुर्भाग्य को

हँसकर टाल देने की धारणा पर ही जी रही हूँ और जिस दिन मन की भावनायें मुझे पराजित कर देंगी उस दिन भारतीय नारी के आदर्श को भूल, नाली का कीचड़ बनने के लिए मैं जीवित न रहूँगी।

"आपकी यह बात मुझ तक ही सीमित रहेगी, यह निश्चय जानें।"

उस पत्र को पढ़कर जहाँ उक्त घटना के नर्मदा तक ही सीमित रहने का अभयदान मिला वहां दूसरी ओर अपनी भर्त्सना और जघन्य लांछनों की बात स्मरण कर मैं ग्लानि से भर उठा। अपराधी न होने पर भी यदि झूठ-मूठ किसी पर अपराध सिद्ध कर दिया जाय तो, जो दशा उस व्यक्ति की होती है वही दशा तब मेरी हो गई। एक साथ कई विचार मेरे मस्तिष्क में कौंद गए। क्या वास्तव में मैं इतना बुरा हूँ ? किसी पवित्र मन्दिर को पददलित कर अपवित्र करने का विचार भी क्या मेरे मन में उठा ? यदि नहीं उठा तो क्या इस अपमान को, इन लांछनों को चुपचाप पी जाना मेरे आत्म-सम्मान के लिए ठीक होगा ? नहीं ! मेरी अन्तरात्मा कलप उठी। मन ही मन मैंने कहा, मैं ऐसा नहीं होने दूंगा। मैं सुजाता से भी स्पष्ट कह दूंगा कि अपने वाक्जाल में भ्रमित कर वर्षों से संचित मेरी समस्त चेतना को क्षण भर में समाप्त करने वाली तुम हो। मेरे मन की अशान्ति का विष-वीज बोने वाली तुम हो। तुम्हीं ने अपनी छलनामयी वाणी से, अपने रूपजाल से मुझ जैसे जड़ व्यक्ति को उद्वेलित कर उसे कहीं का न छोड़ा। आज तक इतने बड़े संसार में किसी ने भी मेरी भावना को कलुषित कहने का साहस न किया। मैंने भी किसी के आगे हाथ फैलाकर उससे कोई भीख न मांगी। बुरे से बुरे समय में भी अपना आत्म सम्मान मैं बचाए रहा हूँ और आज किसी ने यों मेरी भावनाओं का अपमान किया। यह सब क्या तुम्हारे ही कारण नहीं हुआ ? तुम क्या मेरी इस अशांति के लिए स्वयं को दोषी नहीं मानतीं ?

और फिर मेरे पैरों को जैसे किसी ने जकड़ लिया। वह अलखनन्दा का सरस प्रवाह, वह नीली टेढ़ी उसकी धारा, वे पर्वत, वन उपवन

सभी जैसे मुझे काटने को दौड़ने लगे। मैं तेजी से धर्मशाला की ओर मुड़ चला। मेरे एक-एक डग में तब एक अज्ञात शक्ति का संचार हो गया था और मैं प्रातः की उस शीतल समीर को चीरता हुआ-सा वापस दौड़ा आ रहा था।

मार्ग में अलखनन्दा के तट पर प्रातः ही स्नान करती किसी रमणी को देख मैं ठिठक गया। उसका मुख पूर्व की ओर था और एक महीन-सा वस्त्र पहने वह सिकुड़ी, एक शिला पर बैठी जल्दी-जल्दी लोटे से अपने ऊपर पानी डाल रही थी। अपनी ओर से मैंने बिना कोई आहट किये उस ओर से मुँह फेर लिया किन्तु, उसने चौंककर पीछे मुड़ कर देख ही लिया। वह बुरी तरह लज्जित हो, कपड़ों की ओर झपटी और मैं इस आकस्मिक बात से मन ही मन लज्जित हो, नजरें नीची कर आगे चल पड़ा था। अभी मैं कुछ कदम ही आगे बढ़ा था कि एक महीन-सी आवाज़ मेरे कानों में पड़ी—"सुनिये !"

चलता-चलता मैं रुक गया। एक उचटती-सी दृष्टि से पीछे मुड़कर देखा तो वह नीचे से ऊपर तक दूसरी साड़ी लपेटे, गीली साड़ी को निचोड़ रही थी। वह एक नारी की मुस्कान होते हुए भी मेरे लिये डरावनी थी, क्योंकि उसकी शर्बती-सी लगने वाली आँखों में एक खुमार-सा, एक अलसायापन-सा लग रहा था। उसकी आँखो के इन्हीं भावों को देख कर मैं उससे दृष्टि न मिला सका था और आज प्रथम परिचय में ही उससे भी अधिक तीक्ष्ण मुस्कान युक्त भाव देख मैं सहम गया। मनुष्य स्वभाव से ही भीरु होता है और अपनी इसी भीरुता के कारण वह उन्मुक्त नारी के आगे किस प्रकार आत्मसमर्पण कर देता है, इस बात से परिचित होने पर भी उसके उस एकान्त आमंत्रण को मैं अस्वीकार न कर सका। एक बार पुनः उसकी ओर मुड़ कर मैंने देखा, वह साड़ी बदल चुकी थी और हल्के जामुनी रंग की उस साड़ी ने उसके सौन्दर्य में और भी तीव्रता भर दी थी। जल से भीगे उसके केश कमर तक छिटके हुए थे और स्नान के पश्चात किसी अतृप्त नारी में

जो एक मादक-सा सौन्दर्य आ जाता है उससे कहीं अधिक मोहक वह अब लग रहा था ।

धोत्री को हाथ में लिये, दूसरे हाथ में कलई किया एक छोटा-सा लोटा लिये वह मन्द-मन्द गत से चलती हुई मेरे पास आ गई । तव उसके प्रत्येक हाव-भाव से ऐसा ही लग रहा था, जैसे वह अपनी सौन्दर्य रूपी सरिता की प्रचण्ड बाढ़ को बड़ी कठिनाई से नियंत्रित कर पा रही हो ।

उसने आते ही एक धीमी-सी मुस्कान छोड़ी और फिर कहा "आप से कल ठीक तरह से बात भी न हो पाई थी । इसीलिये रोक लिया" इसके बाद वह हँस दी ।

मैंने चलते-चलते संक्षेप में अपना परिचय दिया तो वह कहने लगी "आप के बारे में मां जी से बहुत कुछ सुन चुकी हूँ । मैं यही पूछना चाहती थी कि यह साधु-सन्यासियों की सी मति कहाँ से इस आयु में आप सीख गये ?"

"क्षमा कीजिएगा" मैंने उसे उत्तर देते हुए कहा "मैं ऐसी धारणा नहीं रखता । एक पूर्ण संसारी पुरुष के समान ही मेरे समस्त क्रिया कलाप हैं । यदि मां जी ने ऐसा कहा है तो शायद यह उनकी भूल हो सकती है ।"

"यह मैं कैसे मान लूँ" वह उसी प्रकार आंखें उठाकर मुस्कराती हुई बोली "जो देखती हूँ, वह क्या भ्रम हो सकता है ?"

"हाँ" मैंने कहा "निरे भ्रम के सिवा इसे और क्या कहा जा सकता है?"

"फिर आप के इस भ्रमण का क्या उद्देश्य है?"

"यह निरुद्देश्य है?" मैंने उत्तर में कहा "आप अपने भ्रमण-उद्देश्य के बारे में कुछ बता सकती हैं ?"

"मैं" वह कुछ ठहर कर बोली—"मैं तो तीर्थयात्रा के उद्देश्य से जा रही हूँ । क्या इसमें भी आपको कोई संशय है?"

उसकी बातें आकर्षक होते हुए भी ' वक्त की थीं इसीलिये मन

ही मन उससे मैं कुढन-सी अनुभव कर रहा था। स्वर में कुछ कड़ापन लिये मैंने उसकी बात के उत्तर में कहा "यदि आपको कोई चिन्ता नहीं है, और आपकी आत्मा संतुष्ट है तब तीर्थयात्रा करने की बात मैं तो नही समझता। आपकी व्यक्तिगत बात पर टिप्पणी करना मैं ठीक नहीं समझता किंतु इतना कहे बिना भी न रह सकूंगा कि आप अस्थिरता लिये हैं, आपकी आत्मा सन्तुष्ट नहीं है और उसी को बहलाने के लिये आप तीर्थयात्रा के मार्ग पर निकल पड़ी हैं।"

वह बोली "हाँ किसी हद तक आपकी बात सत्य है। आप ने कष्ट सह कर अच्छे-बुरे की पहचान करनी सीखी है इसीलिये तीक्ष्ण शब्दों में हृदय की बात आप कह जाते हैं।" कुछ ठहर कर स्वयं ही वह बोली "वास्तव में मैं एक अत्यन्त घृणित स्त्री हूँ। अपनी इस आयु में जितने भी पाप मैंने जाने-अनजाने किये हैं, जितनी मैं मार्ग से भटकी हूँ उससे मन उद्वेलित हो उठा तो तीर्थयात्रा के बहाने यहां तक आ गई। यहां आकर भी मरीचिकाओं से मुक्त नहीं हो पाती। बताइये मेरी जैसी औरत क्या करे?"

मैंने पूछा "आप इतनी घृणित औरत क्यों है. भला बता सकेंगी?"

"हाँ" वह गंभीर होकर बोली "जिस बात को वर्षों के परिचित भी न जान सके, वह इस क्षण भर के परिचय में ही आपको बताने में मुझे संकोच नहीं होता। माँ जी को जो कुछ परिचय मैं दे चुकी हूँ वह सत्य नहीं। मैं वास्तव में एक वैश्या हूँ, किन्तु निम्नस्तर की वैश्या नहीं। समय के उतार-चढ़ाव ने मुझे बहुत कुछ सिखा दिया है।"

उसकी बात सुन में हतप्रभ हो गया। मन ही मन मैंने सोचा, अदभुत नारी है। क्या इसे भी नारी कहा जाए या नारी का पिंजर?

मुझे चुप देख वह कहने लगी "जिस व्यक्ति से भी मेरा पाला पड़ा है वह जब मेरी वास्तविकता जान जाता है तब इसी प्रकार मुँह फेर लेता है। इसे मैं भाग्य-दोष के सिवा क्या कह सकती हूँ?"

"नहीं ऐसी भ्रान्त धारणाएँ न बनाएं," मैंने सहानुभूति के साथ

उत्तर दिया "मैं आपकी बात पर ही कुछ सोचने लगा था।"

"क्या सोचने लगे थे?"

"यूही कि नारी के कितने रूप होते हैं" मैंने कहा "आपको उतने रूपों में से, जितने अब तक मैं देख चुका हूँ, किस रूप में समझूँ।"

वह चुप रही, मैं भी कुछ देर चुप रहा, फिर मैंने उससे प्रश्न किया "आपको अपने अतीत से क्या वास्तव में घृणा हो गई है?"

"हाँ" उसने उत्तर दिया "किन्तु विकारों को अभी भी मैं दबाने में सफल नहीं हुई हूँ। मेरे अन्दर अभी एक शिकारी प्रवृत्ति है। धन की कोई कमी मुझे नहीं है, किन्तु जिस प्रकार कोई घोर शिकारी प्रवृत्ति का व्यक्ति किसी पवित्र चरित्र वाली युवती को पतित कर, प्रसन्न होता है, न जाने क्यों, वैसी ही एक पाशविक भावना मुझ में निवास करती है। मैं जब उस घृणित भावना पर नियंत्रण करने की चेष्टा करती हूँ तब वह और तीव्रतर हो मुझे अपनी ओर आकर्षित करती है। इसे आप जो चाहें समझ लें।"

"मुझे आपसे पूर्ण सहानुभूति है" मैंने कहा "और इससे अधिक मैं आपकी कोई सेवा भी नहीं कर सकता। इतनी सलाह मैं आपको अवश्य दूँगा कि आप अपनी वैसी भावनाओं का दृढ़ता से दमन करें। यदि आप ऐसा न करेंगी तो आपकी नारीत्त्व भावना का दमन हो जाएगा। उसके विनाश के पश्चात् आप इतनी दुखी हो जायेंगी कि सिवा पछतावे के आपको और कुछ न मिलेगा। पाप करने से अधिक बुरा, मन में वैसी भावनाओं को प्रश्रय देना है यदि उन्हें प्रश्रय न दिया जाए तो वैसी किसी भी प्रवृत्ति को मनुष्य पर हावी होने में सफलता ही नहीं मिलती। मैं असत्य नहीं कहूँगा। आपके मन में जो विचार पनपते हैं, उनकी एक झलक आपके मुख पर आए बिना नहीं रहती, उस झलक की एक लपट से मैं दग्ध होते-होते बचा हूँ।"

मेरी बातें सुन वह एक बार स्तब्ध हो गई और फिर कुछ भी कहने का साहस उसे न हुआ। हमारा स्थान भी निकट आ रहा था

अतः वह एक मौखिक धन्यवाद व्यक्त कर तेजी से आगे बढ़ गई, मैं कुछ पीछे-पीछे चलने लगा।

उस दिन देखते ही देखते नीलाकाश में काली-काली घटाएँ तैरने लगीं; उनकी उमड़-घुमड़ से लगता था जैसे कुछ ही देर में वे बरस कर इन ऊँची-ऊँची चोटियों को भिगो देंगी। मैं जब उस धर्मशाला में पहुँचा तो कुमार साहब, रानी माँ, नर्मदा एवं सुजाता सभी एक अस्थाई चूल्हे के पास बैठे थे, और एक बड़ी-सी पतीली में चाय मेरे आने की प्रतीक्षा कर रही थी। यह पतीली और पीतल के ग्लास आदि पास की दुकान से माँग कर लाये गऐ थे—जहाँ से हमने सामान भी लिया था।

मुझे देखते ही, पीतल के ग्लासों में चाय डालते हुए रानी माँ ने कहा "घूम आए बेटा ?"

"हाँ" मैंने कह दिया।

वह महिला भी कंघा कर, अब रानी माँ के पास आ बैठी थी, मैंने उसकी ओर दृष्टिपात किया तो यह देख मुझे हार्दिक प्रसन्नता हुई कि मेरी ओर पलकें उठाकर देखने का उसमें साहस नहीं रहा था।

× × × × × ×

वर्षा के कारण उस रोज दोपहर पश्चात्, जब आकाश एकदम साफ़ हो गया, तभी अपनी यात्रा हमने प्रारम्भ की। इससे पूर्व मैं निकट के एक शिव मन्दिर में चला गया था। और वही मैंने दो पत्र लिखे:

नर्मदा जी,

आपका अप्रत्याशित पत्र पढ़ कर जीवन में प्रथम बार इतना दुःख हुआ, जितना शायद कभी न हुआ हो, किन्तु उसके लिये न आप दोषी हैं और न मैं।

जिस आकस्मिक घटना ने आपके हृदय से मेरी क्षद्धा का स्थान अश्रद्धा को दिया, उसके बारे में केवल इतना ही कहूँगा कि इतना उतावला मैं नहीं हूँ, और न ही किसी की पवित्रता को नष्ट करने की

आज्ञा मेरी आत्मा मुझे देती है। यद्यपि मैं एक साधारण संसारी जीव हूँ किंतु प्रमाद की भावनाओं का मुझ पर कभी प्रभाव नहीं होता, मन की चंचलता का ज्वार उठता रहता है, पर मुझ पर हावी होने की शक्ति उसमें नहीं है। आपकी जैसी पवित्र महिला की आत्म संचित श्रद्धा को कुचलने की तो कल्पना भी मैं नहीं कर सकता।

एक बात और कहूँ, और वह यह कि उस घटना का प्रादुर्भाव जैसे भी हुआ हो किन्तु जान बूझ कर आपके साथ मैंने कुछ भी नहीं किया। वह एक ऐसी ही घटना थी जैसे शिकारी की गोली बहक कर लक्ष्य से चूक कर दूसरे को लग जाती है। वह लक्ष्य क्या था, कृपया यह मुझसे न पूछें किन्तु यह सत्य है कि वह आप नहीं थीं। आशा है आप इतने में ही सारी बात पर विवेक सहित विचार कर इस को हृदय से दूर कर देंगीं कि मैं इतना बुरा भी हो सकता हूँ।

आपका

कुमारेश

दूसरा पत्र यों था:—

सुजा !

कल से अब तक तुम्हें मुझसे दो बातें करने का समय भी न मिला, इसे मैं अपने दुर्भाग्य के सिवा और क्या कह सकता हूँ। खैर यही सही।

अब तुम समझदार हो गई हो, शायद इसी लिये तुमने स्वयं को एक दूसरे मार्ग की ओर मोड़ लिया है। पहले तुम सम्भवत: एक क्षणिक बहाव में आकर, किसी ऐसे मार्ग की ओर प्रवृत्त होने जा रही थीं, जो आगे चल कर तुम्हारे लिये हानिप्रद सिद्ध होता। अच्छा हुआ जो तुम सम्हल गईं नहीं तो मैं भी एक बड़ी भूल की ओर अभिमुख हो रहा था।

हाँ यह पत्र नर्मदा जी को दे देना और मेरी ओर से उनसे क्षमा भी माँग लेना। इस पत्र को पढ़ कर तुम स्वयं भी समझ जाओगी कि

इसका हेतु क्या है । यदि समझ न सको तो कभी समय निकाल कर मुझ से ही पूछ लेना ।

तुम्हारा हितैषी
कुमारेश

यह दोनों पत्र मैंने सभी की आँखों से बचा कर सुजाता की ओर बढ़ा दिये, उसने संशकित दृष्टि से एक बार मेरी ओर दृष्टिपात किया और फिर बड़ी ही सफाई से वे दोनों पत्र अपने ब्लाउज की एक ओर दबा लिये ।

इस प्रकार वर्षा की आँख मिचौनी उस सारे दिन चलती रही और उसी में हमारी यात्रा कभी कुछ क्षणों के लिये रुक जाती और बूँदें रुकते ही हम आगे चल पड़ते ।

कमलेश्वर मंदिर और वहाँ से चौदह मील का मार्ग हमने बात की बात में तय कर लिया क्योंकि शीत अधिक होने पर भी उस दिन का मौसम इतना सुहावना था कि, बरबस चलते ही रहने को जी चाहता । मार्ग में संन्यासियों का एक दल हमारे साथ हो गया । संन्यास तो एक बहुत ही दुरूह और दुष्कर जीवन का मार्ग है किन्तु काषाय वस्त्रधारी उन साधुओं को देख मुझे दुःख ही हुआ, जो संन्यास की व्याख्या नहीं कर सकते । केवल अलख जगा कर उदर पूर्ति करना ही संन्यासी का धर्म है, यह मैंने उनके ही मुंह से सुना ।

उस दिन हम रुद्रप्रयाग तक का मार्ग तय कर लेना चाहते थे, इसीलिये हम सभी के डग अन्य दिनों की चाल से अधिक गति-मान लगते थे ।

सूर्य छिप गया था और रुद्रप्रयाग नगरी के शिव मंदिर में आरती होने लगी थी । यद्यपि अभी हमें कोई एक मील पहाड़ी पर उतरना शेष था, तथापि शंखों और घण्टों का निनाद उस संपूर्ण देव-भूमि को गुंजा रहा था । अलखनन्दा की धारा यहाँ आकर पूर्ण शान्त हो गई थी । ऊँची-नीची ढाल पर बसी उस नगरी में लालटेनों और दीपों का टिमटिमाता प्रकाश,

नीलाकाश में चमकने वाले तारागणों की कल्पना मन में भर देता।

आज मैं अपने दल के साथ ही चलता रहा और मार्ग भर कुमार साहब से द्वैत-अद्वैतवाद पर तर्क करता रहा। विजय-पराजय का कोई प्रश्न ही न था इस लिये वार्ता अविवादास्पद रूप से ही चली और समाप्त हो गई। रानी माँ दोनों के तर्कों को ध्यान पूर्वक सुनती रहीं और अपने विचारानुसार उन्होंने भी कुछ तर्क रखे। सुजाता ने कई बार वार्ता में भाग लिया और नर्मदा एवं कमला देवी शान्त रहीं। जब हमारा बसेरा कोई पौन मील के लगभग रह गया तो मैंने अपने पैरों की चाल कुछ धीमी कर दी। इसकी तह में सुजाता से एकान्त में वार्तालाप करने की इच्छा बलवती थी। सुजाता मेरे साथ चल रही थी और अपनी गति धीमी करने से पूर्व मैंने एक बार औरों की नजरें बचा कर उसके हाथ को छू लिया और आँखों से एक अस्पष्ट संकेत कर मैं पीछे हो गया।

वह चलती रही, किन्तु उसे शायद यों अनायास ही रुकने का कोई कारण नहीं सूझ रहा था, पर तभी पास में बह रहे एक छोटे से सोते को देख वह मुँह धोने जैसा अभिनय करती रुक गई। कुमार साहब यह जान कर कि मैं पीछे हूँ, आगे बढ़ते गए किन्तु चार शंकास्पद आँखे उसके इस रुक जाने को इस प्रकार देख रही थीं जैसे वह इसकी पहले ही से प्रतीक्षा कर रही हों। वे चार आँखें नर्मदा और कमलादेवी की थीं। आगे एक छोटी सी चट्टान को बीच से काट कर मार्ग निकाला गया था, और अलखनन्दा अब काफी गहराई पर बह रही थी। इतने ऊँचे से उसका कोई अस्तित्व ही नहीं जान पड़ता था।

मैं चलता-चलता जब सोते के पास तक आया तो सुजाता बिना कोई प्रतीक्षा किये हँस कर बोली "महात्मा! यह कौन सा नया राग आपने आरम्भ कर दिया?"

मेरा मन उद्विग्न था और मैं ऐसे किसी प्रश्न के लिये तैयार न था। किन्तु उत्तर देवे हुए मुझे कहना ही पड़ा "यह पागलपन का राग है।"

"हाँ" वह हँस कर बोली "मेरा भी यही विचार था।"

"हाँ सुजा" मैंने भावपूर्ण स्वर में उसकी बात पर व्यंग्य किया "अब तुम यही समझोगी। मेरा भी अपना विचार था कि एक दिन तुम यही बात कहोगी।"

मेरी इस प्रकार की बात सुन वह मर्माहत-सी हो उठी किन्तु हृदय में ही अवसाद को दबाए मेरी ओर देखती रही। मैंने उसी भाव में फिर कहा "सुजा एक बात बताओ, क्या अब तुम ठीक हो गई हो?"

"हाँ।" उसने कुछ अजीब प्रकार से मेरी ओर देखते हुए कहा।

"मैं अब तुमसे अलग हो जाना चाहता हूँ।" मैंने कहा "मुझे अब अकेले चलने की इच्छा होने लगी है। तुम मेरी बात का बुरा न मानना।"

अब तक जितना धैर्य संजोये वह अपने मन के उफान को रोके हुए थी वह मेरे इन शब्दों से बुरी तरह आँखों की राह छलक पड़ा। हिच-कियों के बीच उसने कहा "आपको मुझे रुलाना ही सुहाता है तो खूब जी भर कर रुला लीजिए। मैं रोऊँगी······खूब रोऊँगी और तब तक रोऊँगी जब तक आपका पाषाण हृदय मेरे आँसुओं से गल कर पानी न बन जाए। मैंने आपको बाँधने का प्रयास किया तो आपने मुझे चोट दी, मैंने इस शर्त पर भी आपकी अनुरक्ति चाही उसे भी आप छीनना चाहते हैं तो छीनिये। मैं खाली हाथ ही किसी नदी की गोद में आश्रय पा स्वयं को अनन्त में लीन कर दूँगी·········।" वह एक बार जोर से रोने लगी और फिर हिचकियों के बीच अपनी साड़ी के आंचल में मुह छिपाए सुबकने लगी।

मैं आज तक अपने बारे में यह नहीं जान पाया कि ईश्वर ने किस मिट्टी से मुझे बनाया और उसने कैसे कोमल और वज्रादपि भाव मेरे हृदय में भर दिये, जो मुझे क्षण भर में विरक्ति के सागर में डुबो देते हैं और क्षण भर में अनुरक्ति के व्योम में लिये उड़ने लगते हैं। सोचता हूँ कि मेरी प्रकृति इतनी परिवर्तनशील क्यों है? क्यों नहीं मैं एक सतह

पर खड़ा होकर एक निश्चय कर पाता ? क्यों मुझमें पंख लग जाते हैं और मैं उड़ने लगता हूँ और क्यों एकाएक मेरे पर कट जाते हैं कि मेरी सारी गति निर्जीव शिला की भांति अचल हो जाती है। जहां सुजाता को मैं अपनी समस्त मानसिक उदभ्रान्तियों का हेतु समझ, उससे दूर होने की बात सोच लेता हूँ वहीं वह क्यों मेरे मार्ग में शीश रख कर मेरी धारणाओं को पलट देती है और क्यों मैं उसके सामने जड़ बन जाता हूँ ? इस प्रश्न का उत्तर देना तो दूर रहा, इस पर विचार करना भी मेरे लिये एक और मानसिक उलझन की सृष्टि थी, अतः इस बात को मैं अनिर्णीत ही छोड़ता हूँ।

वह अब भी सुबक रही थी। मैंने उसे शान्त करते हुए कहा "सुजा ! बस भी करो ! तुम खूब जानती हो कि मेरी मनस्थिति आगे ही डाँवांडोल है और तुम्हें यह भी पता है कि तुम्हें इस रूप में देखकर मैं मार्मिक पीड़ा अनुभव करता हूँ। फिर भी तुम्हारी ऐसी बात क्या मुझ पर अन्याय नहीं है ? चलो अब हमें शीघ्र ही उन लोगों तक पहुँच जाना चाहिये, नहीं तो वे सब हमारे बारे में कुछ भ्रान्त अनुमान भी लगा सकते हैं।"

क्षण भर पूर्व की वेदनामूर्ति सुजाता एकाएक दूसरे ही रूप में परिवर्तित हो गई। मानो वह अपने उद्दीप्त नेत्रों की ज्वाला से समस्त लोक-लाज को दग्ध करके रख देगी। उसने चलते हुए, अपेक्षाकृत ऊँचे स्वर में कहना शुरू किया "यदि आप सुजाता को इतने कच्चे इरादों वाली समझते हैं तो यह आपकी भ्रान्ति है। मैं उस मिट्टी से बनी हूँ; जो एक धूप और एक बरसात में ही अपना रंग नहीं बदल देती। उस बरसाती नदी के समान भी मैं नहीं हूँ, जो वर्ष के आठ मास अस्तित्वहीन रह कर, बरसात में बौरा जाती है। मैं सरे आम कह सकती हूँ कि जिस प्रेरणा ने मुझे काल के क्रूर पाश से मुक्त किया, मुझसे उसका हाथ कोई भी नहीं छुड़ा सकता। सुनते हो ? यह है भी सत्य, मैंने आपका हाथ थाम लिया है........." उसने आवेश में आकर मेरा हाथ पकड़ लिया

और वह गर्म-गर्म साँसें छोड़ती हुई बोली "मैं कहती हूँ कि आपमें भी हाथ छुड़ाने का साहस नहीं है...कहिये चुप क्यों रह गये ?"

उसके इस अप्रत्याशित व्यवहार और रौद्र रूप को देख कर मैं स्तब्ध हो गया, मुख से कोई आवाज न निकल पाई। हतप्रभ हो कर उसकी ओर देखता रहा। संध्या के उस धुँधलके में उसकी पूरी आकृति स्पष्ट दिखाई न देने पर भी, जैसे उसका एक-एक भाव मूर्तिमान हो अंतर की आँखों में नाच उठता था।

मेरे हाथ को जोर से दबाती हुई वह आवेग-पूर्ण स्वर में बोली, जिसमें एक कठोरता भी छिपी हुई थी—"आप निरुत्तर क्यों हो गये, मैं उत्तर चाहती हूँ।"

सहमते हुए मैंने कहा—"तुम चेतना से बहुत दूर चली गई हो... मुझे तुमसे भय लगता है...सम्हलो ! सुजा सम्हलो...मुझे तेरा यह रूप जरा भी पसन्द नहीं। तुम ईश्वर के लिये वास्तविक स्थिति में लौटो !"

मेरे इन शब्दों का उस पर आश्चर्यजनक प्रभाव हुआ। वह शीघ्र ही अपनी वास्तविक स्थिति में आ गई। उसकी वाणी में वही पहले के समान मिठास आ गई, किंतु इससे पूर्व वह मेरे एकदम पास सट कर खड़ी हो गई। उसने मेरे कानो के पास मुँह लगा कर अत्यन्त भावपूरित स्वर में कहा "सच कहते हो ? मेरे इस रूप से भय लगता है ?"

"हां !"

"अच्छा !" वह सान्त्वना के स्वर में बोली "अब कभी इस तरह सामने न आऊँगी। अब तो खुश हो न ?"

"हां।"

वह कुछ अजीब-सी होती जा रही थी। एकाएक वह आगे बढ़ी और उसने अपनी भुजाओं में मुझे कस लिया। उसका मुख मेरे माथे के पास था और उससे निकलने वाली गर्म साँसें मुख और माथे का चुम्बन करती लुप्त हो जातीं। एकाएक मुझे ऐसा लगा जैसे 'अलिफ-लैला' के राजकुमार की भाँति मैं किसी मदहोश स्थान पर आ गया हूँ।

और कि यहाँ से निकल कर जाना संभव नहीं है। मैं यह सब सोच ही रहा था कि सुजाता एक तीव्र गति के साथ मुझसे छिटक कर दूर खड़ी हो गई। वह बुरी तरह हांफ रही थी, उसके अंग की एक-एक शिरा प्रकंपित हो रही थी। मैं हतप्रभ था। एक क्षण पूर्व वह क्या थी और अब क्या है ? यह कैसे उतार-चढ़ाव उसमें आ जाते हैं, इन सब पर विचार करने की मेरी शक्ति कुंठित हो गई लगती थी। मन में साहस बटोर कर मैंने उसका हाथ पकड़ लिया। धीमे से उसके कोमल, रेशम सदृश बालों पर उंगली फेरते हुए कहा "यह तुम्हें क्या हो गया है ? इतनी विक्षिप्त क्यों हो जाती हो तुम ?"

काफी देर से रुकी हुई सांस छोड़ती हुए वह बोली—

"हां ! मैं न जाने क्यों इस तरह विक्षिप्त हो जाती हूँ। क्यों मुझ में समझने की शक्ति नहीं रहती !" कुछ क्षण शान्त रह कर उसी प्रकार पुनः वह बोली..."पर जब-कभी ऐसा होता है, तब मैं चेतना खो बैठती हूँ। मेरी आंखों के आगे अन्धकार-सा छा जाता है। अच्छे-बुरे को समझने की शक्ति नहीं रहती। आज मैंने एक बार फिर आपकी पवित्र इच्छाओं का असम्मान और आत्मा को कुंठित करने का गर्हित अपराध किया है। यदि यही क्रम रहा तो एक दिन मैं आपको खो बैठूँगी....।" उसका गला भर आया था; उसी प्रकार भरे हुए कंठस्वर में उसने कहा "मुझे बचा लो...! नहीं तो मैं कहीं की भी न रहूँगी।"

"पागल ! यों उद्विग्नता को मन में स्थान न दो" मैंने उसे स्नेह से समझाया "सबसे बड़ी बात है, आत्म नियंत्रण की। उससे तुम बहुत बड़ी शान्ति प्राप्त कर सकोगी।"

वह बोली "मुझे आज और क्षमा कर दो।"

"फिर कहता हूँ सुजा" मैंने व्यग्र हो कर कहा "तुम मुझे विक्षिप्त कर दोगी। तुमने किया क्या है, जो मुझसे क्षमा माँग रही हो ?"

"मैंने क्या किया है, वह मैं आपसे अधिक जानती हूँ" वह बोली "आप उस बात को छोड़ दें। मैं चाहती हूँ कि एक बार आप हृद यकी

समस्त भावनाओं के साथ कह भर दें···सुजा ! तुम पागल हो, मैंने तुम्हें क्षमा कर दिया ···कहिये···!"

मैं जानता हूँ कि वह बहुत ही हठी है। जो बात कह देती है, उसे पूरा करने पर ही उसकी जिज्ञासा शान्त होती है। मैंने उसका मन रखने के लिये कह दिया "अच्छा कर दिया क्षमा !"

इसके बाद वह कुछ न बोली।

हम दोनों दर्रे को पार कर घाटी में आ गये थे और अब रुद्रप्रयाग की बस्ती एक फर्लांग से अधिक न थी। बात की बात में उन दो पत्रों के बारे में और नर्मदा के साथ घटी घटना से मैंने उसे अवगत कराया तो वह बोली "जब मैं झोली फैलाए भिक्षा मांगने आपके पास आती हूँ तो आप दुत्कार कर दूर कर देते हैं, और फिर स्वयं ही झोली व याचक की तलाश में इतने व्याकुल हो कर दौड़ते हैं कि असली याचक को भी भूल जाते हैं।"

मैं चुप रहा तो वह बोली "आज जो पत्र आपने मुझे दिया है, उसे मैं नर्मदा को अब न दूँगी। उससे साफ कह दूँगी कि वह मेरे जैसे कपड़े न पहना करे नहीं तो मेरा चोर उसे कभी धोखे में उठा कर ले जायगा।"

उसकी बात सुन कर मैं गहरे सोच में पड़ गया। वास्तव में उस नारी को समझना एक पहेली है। वह क्षण भर में रो देती है—जीवन से विरक्त हो जाती है और कभी क्षण भर में विषाद को भूल कर हास्य की उन्मुक्त लहरियों में बह जाती है। कम से कम मेरे लिये तो वह एक ऐसी पहेली है जो सदा एक प्रश्न चिन्ह बनी रहेगी।

उसकी बचकानी बात सुन कर मैंने कहा "तुम नर्मदा से क्या कहोगी, सुनूँ तो सही ?"

उसने एक शरारतपूर्ण मुस्कान ओठों पर लाते हुए उत्तर दिया "आप चिन्तित क्यों होते हैं ? मैं आपकी कलई नहीं खोलूँगी, स्वयं ही जब इतनी दुस्साहसी हूँ, तब सच कहने में क्या भय ?"

"ऐसा करके तुम एक बड़ी भूल करोगी" मैंने उसे टोका।

वह कुछ गंभीर हो गई थी, बोली "उसकी बात आप छोड़ दीजिये। वह एक संवेदनशील नारी है... पुरुषों से वह भले ही दूर रहे किन्तु एक नारी से वह कभी दूर नहीं होगी········मैं उससे सभी कुछ बता दूँगी।"

मैं चुप रहा। वह मेरे साथ-साथ चलती रही। कुछ दूर आगे चल कर हम अलखनंदा की सतह पर आये तो एक स्थान पर कुमार साहब, रानी माँ और नर्मदा आदि बैठे मिल गये। रानी माँ ने देखते ही कहा "तुम दोनों ही मन से जितने साहसी हो, शरीर से उतने ही दुर्बल। एक मील के रास्ते में ही घंटा भर लग गया।" अपनी बात के अंत में वे स्वयं ही हँस दीं।

कमला जो उनके पास ही बैठी थी, उनकी हँसी में साथ देने लगी किन्तु उसकी हँसी में एक जलन-सी थी। उसने हँसी के ही बीच कहा "कोई अच्छी जगह देखी होगी बस उसे ही देखते रह गये होंगे।"

"हाँ" कुमार साहब ने पाइप में से धुवाँ उगलते हुए कहा "इन्हें इन्सानों से डर लगता है, कगारों से नहीं।" उनकी बातें प्रायः ऐसी ही हुआ करती थीं। वे जितना जोर दे कर एक बात को प्रगट करते उतनी वजनी वह बात न होती किन्तु कमला की उस सीधी-सी बात में जितना गहरा व्यंग्य छिपा था, उसकी अनुभूति होने पर मुझे उससे घृणा हो गई। मुझे लगा जैसे उसके अन्तर की शिकारी प्रवृत्ति ही उससे ऐसी बात कहला रही हो। उससे एक दिन पूर्व नदी तट पर हुई वे सब बातें मुझे स्मरण हो आईं। नारी का मर्म समस्त आयु भी पुरुष नहीं जान पाता, फिर इतनी शीघ्र अपने कलुषपूर्ण जीवन का सम्पूर्ण रहस्य प्रगट कर देने वाली नारी के बारे में क्या समझूँ?

बात यों ही समाप्त हो गई। हम नगर की ओर मुड़ गये, जहां कल-कल करती मन्दाकिनी की अजस्र धारा अलखनन्दा के बाहुपाश में आबद्ध एवं आत्मसात हो जाने के लिये वेग से इठलाती चली आ रही

थी। दोनों धाराएं अपने निनाद से वातावरण में एक अनोखे गुंजन की सृष्टि कर रही थीं। उनका श्वेत, दुग्ध-सदृश हिमानी जल अन्धकार में भी चमक रहा था किन्तु कालिमा के प्रभाव से वह अछूता नहीं था। वहाँ दोनों ओर दो पक्के घाट बने थे और एक शिव मंदिर था; जिसको साक्षी रख कर अलखनन्दा और मन्दाकिनी एक हो गई थीं। वहाँ से दो मार्ग प्रारम्भ होते थे। प्रथम बद्रीनाथ एवं द्वितीय केदारनाथ को। हमने बद्रीनाथ के मार्ग को छोड़ दिया और मन्दाकिनी की धारा के किनारे केदारनाथ का मार्ग पकड़ा। एक ओर मन्दाकिनी बह रही थी और दूसरी ओर उसके किनारे बसे रुद्रप्रयाग के छोटे-छोटे मकानों के भीतर से चमकने वाला प्रकाश मन्दाकिनी के प्रवाह में सुवर्ण-सा बिखेर रहा था। घाटों पर कई मन्दिर थे, जिनमें से संस्कृत के श्लोकों की ध्वनि के साथ-साथ धूप की सुवासित गंध बह रही थी। सड़क के किनारों पर बसे मकानों के भीतर प्रकाश टिमटिमा रहा था। दुकानों पर लोगों की भीड़ थी। चाय की दुकानों में खौलते पानी की केतलियाँ उतार दी गई थीं। उनके स्थान पर अंगीठियों में कड़ाहियां चढ़ गई थीं, जिनसे मसालों की सुगंध आ रही थी। हलवाइयों की कई दुकानें यहाँ थीं, किन्तु इस समय वे सब हाथ पर हाथ रखे बैठे थे।

रानी मां ने एक दुकान में कुछ सफाई-सी देख कर कुमार साहब से कहा "भाई! वैसे भी आज काफी देर हो गई है, कहो तो कुछ यहीं से खरीद लें। अब क्या पता कि आज कहीं ठहरने को जगह भी मिलेगी या नहीं।"

"हाँ, हाँ बहन" वे बोले "सोने की तो कोई बात नहीं है। कहीं भी रात काट ही लेंगे, पर खाना-पकाने का जंजाल आज रहने ही दो। कुछ यहीं से ले लेना ठीक रहेगा, पर तुम तो बाजार का बना कुछ भी नहीं खातीं ?"

"मुझे तो वायु उठ रही है। चाय के सिवा मैं कुछ भी न लूँगी।" रानी मां ने उत्तर दिया। फिर एक दुकान से ताजी पूरियाँ उतरवा-

कर तथा साथ में एक-दो चीजें ले कर हम आश्रय की खोज में नगर में प्रविष्ट हुए। सौभाग्य से उस रात्रि हमें थोड़े से पैसे खर्च करने पर ही एक दुकान की ऊपरी मंजिल में कमरा मिल गया। कमरा हवादार था किन्तु इतना बड़ा न था, जिसमें आराम के साथ खुल कर सोया जा सके। किसी प्रकार सीमित स्थान में ही व्यवस्था करनी पड़ी। महिला वर्ग एक ओर को हो गया और नाममात्र को कुमार साहब तथा मुझे मिला कर बना 'पुरुष वर्ग' एक ओर। तीनों नौकर बरामदे में जम गये। उनके पास कोयले की एक सिगड़ी जल रही थी और रात्रि के अन्धकार में कोयलों की लाल-लाल आभा दूर तक छिटक गई थी।

बारह

अब हमारी मंजिल निकट है। गिरिराज हिमालय अपने श्वेत हिमानी छत्र की छाया में केदार-पुरी की पवित्र भूमि पर शीतलता बिखेर रहा है। सामने मंदाकिनी की अजस्र धारा कलकल निनाद करती बही जा रही है, और उसके हरीतिमाच्छन्न तटों पर मानो प्रकृति का मोहक स्वर गूँज रहा है। दो चट्टानों के दोनों किनारों के सहारे झूले का एक पुल दूर से दृष्टिगोचर रहा है, जो नर्मदा की निर्मल धारा का एक भव्य आभूषण-सा लगता है। चारों ओर उन्नत भाल-शिखर समूहबद्ध, अचल भाव में किसी अनन्त की आराधना कर रहे हैं और मानो मानव से कह रहे हैं—हम धैर्य के प्रतीक हैं। हमसे शिक्षा लो। हम युगों से अन्तर में विश्व-कल्याण की साध लिये इसी प्रकार खड़े हैं, और अनन्त काल तक खड़े रहेंगे।

ओह! कितने सत्यवादी हैं यह धैर्य के प्रतीक शैलखण्ड, तभी तो बड़े-बड़े मनीषी इनसे प्रेरणा ले, अपने निश्चयों को मूर्तरूप दे सके। मैं सोचता जा रहा हूँ और डग बढ़ते जा रहे हैं। दिनकर की किरणें यहाँ निस्तेज हो गई हैं, उनका ताप इस देवभूमि में पराजित हो गया लगता है।

रुद्रप्रयाग से केदारपुरी तक की यह यात्रा दुर्गम होने पर भी कितनी प्रेरणादायक रही, यह मैं नहीं कहता। चार-चार मील पर बसी वे चट्टियां न होतीं तो आज का अपरिश्रमी मानव यहाँ तक कैसे पहुँच पाता। एक-एक पग पर दुर्गमता से जूझता, मानव यहाँ तक आ ही जाता है। रुद्र-प्रयाग से अगस्तमुनि आश्रम और फिर वहाँ से चन्द्रपुरी की पाँच मील की सीधी चढ़ाई जहाँ साँस फुला देती थी, बीहड़, घने जंगलों के बीच से निकली अपनी छोटी सी बाट पर हमारे कदम स्वयं ही आगे

की ओर बढ़ जाते । गुप्त काशी का वह दृश्य अंतर में मूर्तिमान हो गया है, जहां औरंगजेब की कोप-दृष्टि से बचा कर वाराणसी की काशीविश्वनाथ प्रतिमा ला कर प्रतिष्ठित की गई थी । मन्दाकिनी के दूसरी ओर बसे उखीमठ की मनोहारिणी झांकी भी हमें यहां से दिखाई दी थी और झिलमिलाते-से उस नगर में बने मन्दिर के कंगूरे दूर से चमक रहे थे, जिसमें शीतकाल में केदार जी का पूजन होता है । चोटी के ऊपर बसी वह नगरी हमें ऐसी ही दिखाई दी, जैसे वह अधर में टँगी हो । रामपुर चट्टी, त्रियुगी नारायण, जहां के बारे में किंवदन्ती है कि महादेवी पार्वती का विषकंठ से पाणिग्रहण इसी स्थान पर हुआ था, वन के सिवा कुछ न होने पर भी वहां प्रकृति बोलती दिखाई देती थी । यहीं से हमारी कठिन चढ़ाई प्रारम्भ हुई किन्तु वहां के मनोरम दृश्यों ने हमारे अन्तर को मोह लिया लगता था । इसी लिये तो मार्ग के शूल हमारे लिये फूल बन गये, कष्टों ने लाठी का सहारा दिया, दुख-दर्द क्या होता है ; उसकी अनुभूति भी न हुई । फिर गौरी कुण्ड में विश्वनियंता की विचित्रता हमने देखी इस शीतप्रधान देश में, जहां अप्रैल में भी लोग गरम वस्त्र धारण किये बिना नहीं रह सकते । वहां एक कुण्ड का जल ताप से शरीर को झुलसा देता था, उसमें चावल सीझ जाते थे और पास ही स्थित एक दूसरे कुण्ड का जल इतना शीतल था कि शरीर ऐंठ जाता । रानी मां के कहने पर दोनों कुण्डों में हम सभी को स्नान करना पड़ा । सुगंधित एवं स्वच्छ स्फटिक के समान स्नानग्रहों में स्नान का आनन्द कई बार ले चुका हूँ परंतु शरीर से ले कर मन तक की जो शीतलता आज मिली है, वह कभी नहीं मिल पाई ।

स्नानोपरान्त रानी मां ने गौरी के मन्दिर में जल चढ़ाया तो सबको प्रसाद बाँटती हुई वे बोलीं "पवित्र मन से तुममें से प्रत्येक प्राणी मां गौरी से इच्छित वस्तु पा सकता है ।"

इस पर सुजाता ने एक कटाक्षपूर्ण दृष्टि से मेरी ओर देखते हुए कहा "सच कहती हो माँ ? यदि ऐसी ही बात हो तो मेरी मुराद के लिये

सिफारिश कर दो ।"

"तू तो पागल है बेटी !" रानी मां ने उसकी ठोढ़ी छूते हुए कहा "अरी यह कोई देहधारी का दरबार है रे ! जो यहां सिफारिश और घूस चलेगी पागल स्वयं माँग के देख ले न !"

न जाने नर्मदा को क्या सूझ पड़ा, वह बोल उठी "तेरी मुराद तो पूरी हो भी गई सुजा ! अब और क्या लेगी ?" उसने ओठों पर एक स्मित हास्य लाते हुए मेरी ओर देखा, जैसे वह मुझसे पूछ रही हो—क्यों ठीक है न ?

सुजाता का मुख नर्मदा की बात से एक बार लज्जा के मारे रक्ताभ हो गया, किन्तु शीघ्र ही सम्हल कर उसने कहा "दीदी ! योंही छलाँग क्यों लगा रही हो ? क्या मिल गया मुझे सुनूँ तो ?"

हँसते हुए नर्मदा बोली "इतनी मूर्ख न समझ मुझे बहन ।" और फिर वे दोनों देर तक हँसती रहीं । उनकी सांकेतिक भाषा को कोई और क्या समझ पाता किन्तु मैं तो समझ ही गया । मुझे उनकी बात से अनुभव हुआ कि सुजाता नर्मदा से सभी कुछ बता चुकी है । यह अच्छा हुआ या बुरा यह सोचने की आवश्यकता मुझे न थी । हाँ, मुझे इस बात का सन्तोष था कि सुजाता ने नर्मदा के मन से वह द्विविधा दूर कर दी, जिसके कारण उसने मुझे पत्र लिखा था । कमला, सुजाता और नर्मदा की ओर अर्थपूर्ण दृष्टि से देख रही थी शायद वह उन दोनों की संकेतात्मक भाषा के मर्म तक पहुँचने में चेष्टा रत थी । वह कनखियों से उन दोनों की ओर दृष्टिपात करती और फिर उसकी आँखें मुझ पर ठहर जातीं । मुझे बुरा तो अवश्य लगा परन्तु ध्यान न दिया ।

गौरी कुण्ड से केदार नाथ केवल साढ़े छः मील रह जाते हैं, किन्तु नाम के यह ६॥ मील अब तक की यात्रा से कहीं अधिक थका देने वाले निकले । कहीं-कहीं तो खड़ी चढ़ाई में साँस फूल जाती और तब विश्राम करने के लिये अनायास ही कहीं रुक जाना पड़ता । कभी जब हमारी चढ़ाई का क्रम कुछ क्षणों के लिये विराम लेता तो चट्टानों के ऊपर बसी

किसी चट्टी पर हम साँस लेते और फिर ऊँचे पर बसी उस देवपुरी की एक झलक भर देख, द्रुत गति से यात्रा प्रारम्भ कर देते।

आज अपनी पहली मंजिल के निकट पहुँचते-पहुँचते हम एक बार मूसलाधार वृष्टि से तर हो गये। वहाँ आस-पास में ऐसा कोई स्थान भी न था जहाँ कुछ क्षणों के लिये हम सिर छिपा सकते। अतः जब मन्दाकिनी घाटी में हम उतरने लगे तो कीचड़ के कारण चलना कठिन हो गया। बढ़ी कठिनाई के साथ हम उस ढलान पर उतरने लगे।

फिर कई दिनों के बाद आज सुजाता को जोर की खांसी आई, और इसी में उसकी आँखें लाल हो गईं। चेहरा पीला-सा पड़ गया, माथे पर रेखाएं उभर आईं। उस समय हम दोनों बाँज और चीड़ के वृक्षों के झुरमुट तले वर्षा के कम होने की आशा में खड़े थे परन्तु हुआ आशा के विपरीत ही, कुछ समय पश्चात वर्षा ने झुरमुटों के बीच भी हम दोनों को तर कर दिया। वह वर्षा के वेग को सह न सकी, शीत की गातवेधी लहर से उसका अंग-अंग काँपने लगा, साथ ही तीव्र खाँसी के वेग ने उसे हिला कर रख दिया। खांसी के साथ-साथ उसे रक्त वमन भी हुआ, उसमें माँस के दो तीन छोटे टुकड़े भी दिखाई दिये। मुझे लगा जैसे अब वह कुछ ही क्षणों में भूमि पर गिर पड़ेगी। ऐसी स्थिति आने से पूर्व ही मैंने उसे बाहुओं का सहारा दे कर उठा लिया। वह तब पत्ते के समान थर-थर काँप रही थी और उसका हृदय तीव्र गति से स्फुरित हो रहा था।

उसके सिर से पानी की बूँदों को हाथ से पोंछते हुए मैंने उससे पूछा "सुजा यह क्या हो गया तुम्हें? अभी-अभी तो तुम ठीक थीं!"

वह कुछ बोल न पाई, केवल गर्दन हिला दी। उसकी दशा देख कर लगता कि इस समय वह इतनी तीव्र व्यथा को साहस के साथ रोकने की चेष्टा कर रही है। वर्षा रुकने के स्थान पर निरंतर तीव्र होती गई। हमने देखा कि ऐसे में ही आगे बढ़ने के सिवा दूसरा चारा नहीं रह गया। अतः मैंने सुजाता को कन्धे पर लाद लिया और मंद गति

से चल पड़ा। एक ओर मूसलाधार वृष्टि, दूसरी ओर कीचड़ भरा मार्ग। पैर फिसलने लगते तो बड़ी कठिनाई से अपने को सम्हाल पाता और फिर मन में साहस संजो कर आगे बढ़ने की चेष्टा करता। मेरे कपड़े तो लथपथ हो ही गये थे, पर सुजाता के कपड़े महीन होने के कारण उसके शरीर पर चिपक गये थे। वह चेष्टाहीन-सी मेरी पीठ पर थी।

सामने नर्मदा नदी के वक्ष पर उन्मत्त जलराशि की मर्यादा को बाँधे एक झूले का पुल दिखाई दे रहा था जो अधिक दूर न था और केदारनाथ जाने के लिये उसे पार कर हमें आगे बढ़ना था। वर्षा की गति भी कुछ धीमी हो चली थी। सुजाता क्रमशः चेतनावस्था की ओर लौट रही थी; उसकी नाक की राह आने वाली गरम साँसें मेरी गर्दन को छूती हुई आगे बढ़ जातीं।

पुल के पास आते-आते उसने क्लान्त वाणी में कहा "अब नीचे उतार लो।"

"मुझे कोई भार नहीं लग रहा" मैंने कहा "तुम चुप-चाप बैठी चलो।"

"नहीं" उसने जिद की "मैं उतर कर चलूँगी।"

बहुत कहने पर भी जब वह न मानी, बाध्य हो कर मैंने उसे उतार दिया। वह धीरे-धीरे मेरी कमर का सहारा लिये चलने लगी। मन्द-मन्द बूँदें अब भी गिर रहीं थीं, वे सुजाता की केश राशि में से छन कर चू जातीं, देखने में वे ओस के मोतियों सदृश लगतीं। इस क्लान्त, परिश्रान्त स्थिति में भी उसका नारी सुलभ सौम्य सौन्दर्य छलकता सा लगता। उसकी आँखें शून्य का भाव लिये दीखतीं और मुख पर कातरता जैसे चिह्न परिलक्षित होते। वह अपने अंग से चिपके वस्त्रों को हाथ से ढीला करने की चेष्टा करती किन्तु शीघ्र ही वे पूर्ववत हो जाते। तब वह लज्जित-सी हो, नेत्र झुका लेती। अपने शरीर पर चिपके वस्त्रों की ओर दृष्टिपात कर, वह आँखों से ऐसे भाव व्यक्त करती मानो लज्जा के असहनीय बोझ तले दबी जा रही है।

पैरों की गति को तनिक मंद कर उसने मौन भंग कर कहा "आप

जो कुछ कहते थे वह बात पूरी नहीं हुई। मैं जानती हूँ और मेरा दृढ़ विश्वास हो चला है कि मेरा अन्त मुझे बुला रहा है।"

"यह तुम कैसे जान पाईं ?"

वह बोली "मेरी आत्मा मुझे धोखा नहीं दे सकती। उसी की आवाज ने मुझ से ऐसा कहा है। शायद गिनती के बहुत थोड़े दिनों में मैं संसार से उठ जाऊँगी।"

"तुम पागल न बनो !" मैंने उसे स्नेह भरी प्रताड़ना देते हुए कहा "तुम वहम की शिकार हो गई हो क्या डाक्टर की बात का भी तुम्हें विश्वास नहीं है ?"

"मुझे किसी भी बात का विश्वास नहीं रहा" उसने कहा "केवल आत्मा की आवाज पर ही मुझे विश्वास है, और उससे आप परिचित हो चुके हैं।"

"कभी-कभी आदमी अपनी आत्मा को छल कर ही मनस्तुष्टि अनुभव करता है। मुझे बाध्य हो कर यह बात तुम्हारे ऊपर कहनी पड़ रही है। तुम्हारे अन्तर में निराशावाद बुरी तरह से पनप रहा है, यह कितनी बुरी बात है ?" मैंने भावावेश में कहना आरम्भ किया "मैं यह भी जानता हूँ कि ऐसा क्यों हुआ और तुम भी इस कारण से भिज्ञ नहीं ऐसा मैं नहीं मानता। इसीलिए रोज के इस पचड़े को आज में सदा के लिए समाप्त कर देना चाहता हूँ......" मेरे माथे की रेखाएं उभर आईं थीं और स्नेहपूरित आक्रोश से में कांप रहा था। मैंने अपने शब्दों में तीव्रता लाते हुए कहा 'बताओ सुजा ! आखिर तुम चाहती क्या हो..... जल्दी बताओ ?"

मेरे क्रुद्ध भाव से उसकी पीड़ित आँखें भयभीत हो गईं, एकाएक वह कुछ कह सकने की स्थिति में नहीं थी। उसे चुप देख मैंने पुनः कहा "बताओ सुजा, तुम क्या चाहती हो ! आज इस बात का निर्णय करके ही मैं हटूंगा। इन दुःखों की आग में यों जलना मुझे अब असह्य हो गया है।"

शून्य की ओर देख एक ठण्डी साँस छोड़ते हुए उसने कहा "आप ठीक ही कहते हैं।" शायद उसकी आँखों की कोरें प्लावित हो गईं थीं। उसने साड़ी के आँचल से उन्हें पोंछा और फिर कहा "संसार में कौन किसी का है ? दूसरे की इच्छा पर कोई किसी का होता भी नहीं है।"

उसने पुनः एक बार अपनी आँखें पोंछीं और फिर धीमे स्वर में कहा "अच्छा ! यही सही।"

उसकी स्थिति करुणापूर्ण थी, प्रत्येक अनुभूतिशील व्यक्ति के लिये उसके प्रति सहानुभूति होना स्वाभाविक था। मुझे इससे असहनीय वेदना हुई किन्तु आने वाले शुभ के लिये उस क्षणिक अशुभ को कड़वे जल के समान मुझे पी जाना पड़ा।

वर्षा रुक गई थी, और ठण्ढ अपने पूर्ण यौवन पर थी। नर्मदा पर बना झूले का पुल हमारे सामने था, जिसके आधारस्तम्भों की छाँह तले कुमार साहब व अन्य हमारी प्रतीक्षा कर रहे थे।

हमें देखते ही कमला ने कहा "आप लोग बुरी तरह भींग गए हैं।"

"जी हाँ" मैंने उत्तर दिया "आप भी तो भींगने से बच नहीं सकी हैं।"

वह मुस्करा दी। उसने एक बार अपने अंग से सटे गीले वस्त्रों की ओर दृष्टिपात किया, जिनसे उसके सारे अंग बाहर आने को मानो आकुल हो वस्त्रों की मर्यादा को भंग-से करते लगते थे। मेरी बात का उसने कोई उत्तर न दिया था, तब से अब तक उसके होठों की हँसी पूर्ववत्त थी। उसकी मुसकान में वही निर्लज्ज मादकता थी, वही मदोन्मत्त भाव और वही कटीली चितवन थी, जिनसे मुझे भय-सा लगता था। मैंने फिर उसकी ओर न देखा।

मार्ग में घटी घटना के बारे में सुजाता और मैं दोनों ही मौन रहे। रक्त वमन की बात भी अनावृत ही रह गई। नर्मदा का पुल पार कर हम आगे बढ़ गये, जहाँ आद्यपुरुष शंकराचार्य की पावन-तपोभूमि केदारनाथ पुरी संध्या का सुनहला आवरण समेटे हमारी अगवानी-सी करती जान पड़ती थी।

तेरह

केदारनाथ पुरी में हम तीन दिन ही ठहर पाए। इन दिनों मेरी मानसिक स्थिति अत्यन्त ही अशान्त रही। विचारों के प्रवाह पल-प्रतिपल मेरी उद्भ्रान्तता को बढ़ाते जाते और मैं उस प्रवाह में अनिच्छा से बहने लगता।

सुजाता ने मुझसे बोलना बन्द कर दिया था और अब उसके स्वास्थ्य में आश्चर्यजनक परिवर्त्तन हो जाने से कुमार साहब की उदास आँखों में भी एक चमक आ गई थी। रानी माँ से कभी कोई बात छिड़ जाती तो उसमें सभी गाहे-बगाहे भाग ले लेते, किन्तु जो उल्लासमय जीवन हम लोगों के बीच बहा करता था, वह अब मन्द पड़ गया लगता था। सभी बोलने को बोलते थे और हँसने को हँस देते थे परन्तु उसमें वाह्य शिष्टाचार ही प्रकट होता था और कुछ नहीं। कभी-कभी अवसर पाकर कमला कोई बात पूछ लेती तो साधारण-सा उत्तर दे देता। बाकी समय एकाकी भ्रमण करता या किसी शान्त स्थान पर कुछ सोचा करता।

उस दिन मैं घंटों आद्यपुरुष शंकराचार्य की समाधि के पास बैठा रहा। सामने हरे-हरे वन उपवन थे और नीचे मन्दाकिनी की पवित्र धारा बह रही थी—आकाश में गहरी काली घटाएं घिरी थीं और दूर कहीं एक रजत शिखर-सम हिम-शृंखला चमक रही थी। संध्या की लाली ने उसकी चमक में एक सुनहरा रंग भर दिया था। ऐसे में मैं सोच रहा था कि संसार में प्रेम, दया और माया सभी में स्वार्थ की छाया है। मनुष्यवत स्नेह सम्बन्ध क्या नहीं बन सकते? आज पुनः बहुत दिनों के बाद मैं अपने आपको विचारों के बीच पिसता अनुभव कर रहा था, मुझसे कुमार साहब को अब पहले जैसा स्नेह क्यों न रहा? क्या इस लिये कि अब सुजाता ठीक हो गई है और उसका जी बहलाने के लिये

उसने सहमे-से भाव में पलकें ऊपर उठा कर मेरी ओर देखा और फिर पीड़ित-से स्वर में कहा "सच-सच कहना, क्या मेरे दुःख से आप को वेदना होती है ?"

"सुजा ! मेरी स्पष्टवादिता के लिये मुझे क्षमा करना।" मैंने गंभीर स्वर में कहा —"प्रत्येक के दुःख से ही मुझे वेदना होती है। मैं चाहता हूँ, प्रत्येक की पीड़ा का मैं भागीदार बनूँ, अपने ऊपर हजार-हजार यातनाएँ लेकर भी मैं दूसरे को सुखी देखना चाहता हूँ, जिससे सभी अपने पाथेय पर बढ़ते जाएँ, रुकें नहीं, तुम बंगला नहीं जानतीं सुजा ! नहीं तो विश्व कवि रवीन्द्रनाथ की वह कविता मूल भाषा में मैं तुम्हें सुनाता, पर उसके भावार्थ सुनो तो ! कितने उत्प्रेरक हैं—

"यदि तुम्हारी आवाज सुन कर कोई उसका उत्तर न दे, तो ए यात्री ! तू फिर भी बढ़ा चल ! पीछे मुड़ कर न देख !

"यदि तुझे आगे बढ़ते देख कोई हँसे, तो तू उसके ठहाके में अपनी वेदना के गीत घोल दे······तू बढ़ा चल···।

"यदि तेरे मार्ग में आँधियाँ आएँ, तूफान आएँ तो उन्हें चीरता चल......रुक मत......

"यदि तेरे पैर थक जाएँ, कांटों से छिद जाएँ—उनमें से रक्त-धार प्रवाहित होने लगे, तो भी तू इन सबको भुला दे और अपने लक्ष्य की ओर देख, जो तेरे सामने खड़ा है......तू बढ़ा चल......।"

मैंने स्नेह से सुजाता के सिर पर हाथ रखा, क्योंकि इस बात से मैं कभी भी इन्कार न करूँगा कि सब को समान रूप से प्यार करने के अपने सिद्धान्त में सुजाता के समक्ष मैं सफल नहीं रहा हूँ। सामान्य के प्रति जितना प्यार मैं जताता आया हूँ उसमें कृत्रिमता का अंश हो सकता है किन्तु सुजाता इससे बहुत आगे है......उसके प्रति मेरा पक्ष-पात स्पष्ट है और यह मेरे चंचल मन की उहापोह के सिवा और कुछ नहीं। इतना होने पर भी मैं सुजाता से वह सम्बन्ध स्थापित नहीं करना चाहता, जिसकी वह मुझसे आशा करती रही है। मन के बहुमत द्वारा

इसमें पूर्ण सहमत होने पर भी मैं उससे दूर रहना चाहता हूँ और ऐसा क्यों होता है यह मैं आज तक नहीं जान पाया।

मेरी इन लम्बी-चौड़ी बातों और असमय के उपदेशों से वह खिन्न न हुई बल्कि एक आज्ञाकारी लड़की के समान उसके नेत्र जमीन पर गड़े रहे। उसे मौन देख मैंने फिर कहा "मैं फिर कहता हूँ सुजा! अपने आप से प्यार करना सीखो। और उस प्रेरक शक्ति पर विश्वास करो जो एक कर्तव्य पूर्ति की आशा कर हमें मानव का रूप देती है। देखो! मुझसे तुम्हारी यह आकृति नहीं देखी जाती। तुम अपने आपको ठीक करो।"

एक क्षण के लिए उसका मुख प्रसून मुरझा गया। वह उदासी के वातावरण में डूब गई और फिर उसी भाव में उसने मेरी ओर दृष्टिक्षेप करते हुए कहा "क्षमा प्रार्थना के साथ पूछती हूँ कि क्या आप मुझे भी उतना ही प्यार करते हैं जितना प्रत्येक के लिए आपके हृदय में है या इससे अधिक?"

उसे भावधारा में बहते देख मैंने उत्तर दिया—"सम्भव है सुजा! तुम्हें मेरी बात से दुःख पहुँचे किन्तु यह सत्य है कि तुम्हें एक विशेष रूप में मैं प्यार नहीं कर पाता। यदि ऐसी बात होती तो मैं यह नहीं कह पाता कि मुझे तुमसे प्यार है। आज तुम मेरी आशा बन गई हो किन्तु इस लिए नहीं कि तुम मुझे भोग्य रूप में दिखाई देती हो, बल्कि इस लिये कि मैं तुम्हें पूज्य रूप में देखता हूँ।"

मैं कहता गया "मैं चाहता हूँ सुजा, कि प्रकृति की बनाई इस नाट्यस्थली का प्रत्येक जीव निराशा के धुँध में आशा को ढूँढ़े और प्राप्त करे। उसे मृत्यु से भी भयभीत न होना चाहिये क्योंकि वह कभी समय से पूर्व नहीं आती। तुम भी स्वेच्छा से इस संसार में नहीं आई हो, फिर तुम्हें स्वेच्छा से जाने की बात कहने का क्या अधिकार है?"

उसे फिर खांसी उठी और उसके कफ में रक्तिम-सा रंग दिखाई दिया। उसने एक बार भयभीत दृष्टि से उस ओर देखा और फिर मेरा सहारा लिये वह मंथर गति से चलने लगी। चलते-चलते उदास भाव से

एक पहरुये की आवश्यकता नहीं रही ? और रानी मां क्यों बदल गईं ? शायद इसलिये कि मेरे जैसे व्यक्तियों का अस्थिर जीवन वे पसन्द नहीं करतीं ? नर्मदा को मैं कोई दोष नहीं देता, इसलिये कि वह स्वयं एकाकी रहना चाहती है। सुजाता के बारे में मैं सोचने लगा तो मुझे स्वयं पर क्रोध आए बिना न रहा। वास्तव में, मैं स्वयं मूर्ख हूँ ! जो मनुष्य अपने अन्तस्तल की अशान्ति को दूर नहीं कर सकता वह किसी की पीड़ा क्या हर सकता है ? मैंने अतिशय भावुकता के वशीभूत होकर उस नारी से इतना प्रेम वृथा ही तो किया । वह वासना को प्रेम की पराकाष्ठा समझती है, और मैं वासना को प्रेम की इति मानता हूँ, सम्भव है हम दोनों ही अपने-अपने स्थान पर सही हों, पर मैं उसके निर्देश पर नहीं चल सका तो मुझे दो दिनों में ही भूल गई ! इतने निकट की आत्मीयता और उसका ऐसा अन्त ?

आकाश में एक जोर की गरज हुई, बिजली कौंधी और फिर वर्षा शुरू हो गई। मैं बैठा रहा। मुझे अपने एक कवि मित्र की याद आ गई जो कभी-कभी बादल और घाटी पर रचित अपना महाकाव्य मुझे सुनाया करता था। काश ! वह आज मेरे पास होता और वही लाइनें सुनाता। मुझे उसकी वही आँखें याद आ गईं जो बादलों जैसी गंभीरता अपने में छिपाए होतीं और देर तक उन्हें देखते रहने पर लगता जैसे वे बाध्य होकर बरस पड़ेंगी। वह कहा करता कि बादल मूर्ख है जो दुनियाँ का दुःख देख कर अपने अनमोल आँसुओं से धरती के तप्त हृदय में शीतलता भर देता है। फिर वह स्वयं अपनी बात को काट कर कहता—"लेकिन नहीं ! बादल एक त्याग का नाम है, एक परोपकारी प्रवृत्ति है वह। जो सांसारिक शिष्टाचार से सर्वथा दूर खड़ा अपने अमर सिद्धान्त की साधना में रत है ! वह युगों से रो रहा है और युगों तक रोता रहेगा........ इसलिये कि उसके आँसुओं से संसार में हरियाली आए।" मैं बैठा-बैठा खूब भींग गया था, और मुझे ठंड भी लगने लगी थी फिर भी मैं शान्त बैठा रहा, "कितना महान है वह"। बादल के प्रति अनायास ही मेरे मुँह

से निकल गया ।

मेरी आँखों से निकले आँसू बरसात की बूँदों में विलीन होते गए । मुझे उनका कोई दुःख न था, क्योंकि मेरी राय में यही उनका सदुपयोग था ।

समाधि के पास ही एक मंदिर भग्नावस्था में खड़ा था । उसमें स्थान-स्थान पर दरारें पड़ गई थीं, उठ कर मैं उसी की ओर बढ़ गया । वर्षा की बूँदें अब भी पड़ती जा रहीं थीं किन्तु पहले से कम ।

तभी अपने पीछे कोई हल्की-सी आहट सुन कर मैं ठहर गया, पीछे जो मुड़कर देखा तो अनायास ही मुँह से निकल गया "अरे आप !"

"हाँ मैं हूँ" गरदन झुकाए कमला ने उत्तर दिया । मैं बिना कुछ कहे बरामदे के पास आकर खड़ा हो गया । यन्त्रचालित मूर्ति सदृश वह मेरे सामने आकर खड़ी होगई और अपने केश फैलाए उन्मत्त की भाँति गिर पड़ी । उसकी आँखों में मैंने आज आँसू देखे, वह उनसे मेरे पैरों पर मानों अपने समस्त पापों को समर्पित किये दे रही थी ।

मैंने उसे उठाने की चेष्टा की किंतु वह जोर से उन्हें पकड़े थी, मैं अपने प्रयास में सफल न हो सका । मैंने उसे उठाने का असफल प्रयास करते हुए कहा "यह आपको आज क्या हो गया है ?"

"यह आप समझ जायेंगे" यह उसने भारी स्वर से कहा और एक हिचकी लेकर वह पुनः बोली "मैं एक अधम नारी हूँ । मैंने जीवन में बड़े-बड़े पाप किये । बहुत चाहा कि अब मैं उस जीवन का अन्त कर दूँ किन्तु प्रवृत्तियाँ नहीं मरीं । आप जैसे व्यक्ति को भी मैंने अपना आहार बनाना चाहा......इसी लिये मैंने क्या नहीं किया ? किन्तु आपने मुझे पराजित कर दिया मेरे देवता ! इसी खुशी में उन चरणों को चूमने आई हूँ जिन्होंने मुझे नया रास्ता दिखाया है........" यह कह कर उसने धीरे से मेरे पैरों को चूम लिया । स्वयं पर एक ग्लानि तब मुझे नहीं हुई किन्तु एक अज्ञात शक्ति से बँधा मैं जड़वत खड़ा रहा । कुछ बोलने की भी शक्ति मुझ में न थी ।

उसके पश्चात वह उठकर खड़ी हो गई। उसने श्रद्धा से एक झुक कर मुझे प्रणाम किया और फिर विनीत वाणी में कहा तीर्थ यात्रा नहीं करूँगी। मैं आज ही वापस लौट रही हूँ..... दया से मुझे अपना मार्ग मिल गया है......मुझे आशीर्वाद दीजिये

शान्त स्वर में मैंने कहा "मैं तो कोई अपनी अनुकम्पा इसमें नहीं समझता और न ही मैं कोई सिद्ध पुरुष हूँ। व्यक्ति को पत्थर सदृश पूजना भी मुझे नहीं भाता, किन्तु इस समय आपकी भावनाएं सुनहले भविष्य की सुखद उड़ानों में विभोर हैं इसलिये मैं इस परिवर्तन के लिये हृदय से आपको बधाई देता हूँ......आप जहाँ भी रहें......सुखी रहें... आपका दुःखद अतीत सदा आपको उचित-अनुचित का ज्ञान कराता रहे।"

उसने पुनः एक बार प्रणाम किया तभी मैंने पूछ लिया......"लेकिन इस समय आप कहाँ जा रही हैं?"

"अपने पति के पास।" वह सिर नीचे झुकाकर बोली "यौवन की उद्दाम लहरों के बहाव में बह कर जिन्हें मैं छोड़ आई थी।"

"वे कहाँ रहते है?"

"वे दिल्ली के एक गाँव में मास्टर हैं।"

"तो क्या वे हँस कर आपका स्वागत करेंगे? ऐसा विश्वास है आपको?"

"वे महान् हैं" सजल नयनों से मेरी ओर देखते हुए उसने कहा "वे सोने के मैल को नहीं देखते, सोने को देखते हैं।"

मैं उसे छोड़ने सड़क तक गया, उसने मन्दिर के पास ही अपनी पोटली रखी थी—उसे उठाकर वह चलने लगी। जब वह मुझसे विदा हुई तो उसकी आँखों से अविरल अश्रु प्रवाहित हो रहे थे। उसने मुझे एक कागज देते हुए भरे गले से कहा "कभी भूल कर भी यहाँ आ सको तो अपने को धन्य समझूँगी।"

मैंने भी भरी आँखों से उसे विदाई दी और कहा "जीवित रहा तो

ओऊँगा ? ईश्वर आपको सुखी रखे ।"

करुणा की मूर्ति सदृश उस वन की विकटता को चीरती वह आग बढ़ती गई और जब तक वह मेरी आँखों से ओझल न हो गई मैं उसे देखता रहा। जब मैं वापस लौटा तो मेरे मुँह से अनायास ही निकल गया—"तुम जीत गईं कमला।" मुझे लगा जैसे वेश्या कमला का नारीत्व पुनः जीवित हो उठा है और अब वह पूर्ण मानवी अनुभूति लिये एक नये मार्ग की ओर अग्रसर हो रही है—जहाँ एक चमचमाता सूरज है—जहाँ अंधकार तो है किन्तु चाँदनी के धवल प्रकाश ने उसका रूप हर लिया है।

इसी प्रकार मैं अपने बसेरे में लौट आया, जहाँ लालटैन जलाए सभी मेरी प्रतीक्षा में बैठे थे। हम केदारनाथ मन्दिर के निकट एक पण्डे के घर ठहरे थे जहाँ से चारों ओर फैली हरीतिमा अपनी मोहकता से हृदय को कुछ क्षणों के लिये हर लेती दिखाई देती।

जाते ही रानी माँ ने कहा—"कमला वापस लौट गई सुना तुमने !"

"हाँ" मैंने साधारण ढंग से उत्तर दिया "मार्ग में मिलीं थीं ?"

"मार्ग में कहाँ ?" रानी मां ने चौंक कर पूछा।

"मैं टहल कर आ रहा था" मैंने उत्तर दिया 'वह वापस जा रही थी।"

रानी माँ ने मुँह सिकोड़ कर कहा "कैसी औरत है जाने ! बिना यात्रा पूरी किये ही वापस चली गई। उसे इतनी ही जल्दी थी तो आई ही क्यों थी ? क्या भगवान का भी डर नहीं रहा।"

मैं चुप रहना चाहता था पर एक ऐसी नारी की बुराई सुन कर चुप न रह सका, जो मेरे लिये अब श्रद्धेय हो चुकी थी। उसके प्रति कोई भी अपमानजनक बात सुनना मुझे अन्याय सह जाने के सदृश लगा। मैंने दृढ़ता से रानी मां की बात काटते हुए कहा "रानी माँ ? भगवान से वे डरते हैं, जो स्वार्थ के सहारे जीते हैं, जो हजार-हजार जप-तप करने में ही जीवन की सार्थकता समझते हैं। मानव की पीड़ा से

कोई ठेस नहीं पहुँचती। कमला को आप समझ नहीं सकीं रानी माँ? आज ही उसने इतने सारे पुण्य बटोर लिये हैं जितने हम जन्म-जन्मान्तरों में भी अर्जित न कर सकेंगे।"

"ऐसी क्या बात थी उसमें ?" उन्होंने जिज्ञासा के भाव से पूछा।

"रानी माँ ?" मैंने कहा "वह आज से कई वर्ष पूर्व अपने पति का त्याग करके स्वछन्द हो गई थी......।"

मेरी बात को बीच में ही काटती हुई वे बोलीं "छी: छी: इतनी गिरी हुई थी वह ?"

"वह एक गणिका थी," मैंने कहा—"और उसने थोड़े ही समय में खूब धन कमाया, कि तु उसकी कामनाओं का अन्त न हुआ..."

"राम-राम !" बीच में पुनः उन्होंने कहा "उसके बीच खान-पान करके तो मेरा नेम-धेम ही नष्ट हो गया।"

"हाँ आप यही कहेंगी" मैंने कहा "किन्तु मैं ऐसा कह कर उस महाभागा के प्रति अन्याय न कर सकूँगा। वह जीवन का मर्म समझ कर अपने पति के पास गई है।"

"वह क्या उसे रख लेगा" ? उन्होंने प्रश्न किया।

"वह एक मनुष्य है" मैंने कहा "मर्यादा पुरुषोत्तम राम के समान ईश्वर नहीं, उसके हृदय में एक इन्सान है और सच्चा इन्सान किसी की भूलों के लिये उसे मिटा देने के स्थान पर उसे क्षमा कर देना बेहतर समझता है, वह परलोक के लालच से इहलोक में आग नहीं लगाता। वह सृजन चाहता है और हर बिछुड़े को रास्ता दिखाता है।"

रानी माँ कुछ देर के लिये चुप हो गईं, उनसे कुछ बोलते न बना फिर तनिक ठहर कर उन्होंने कहा "इससे तो अनाचार को ही बल मिलेगा। फिर धर्म—अधर्म में अन्तर ही क्या रह जायेगा ?"

उनकी बात पर अनायास ही एक व्यंग्यपूर्ण मुस्कान मेरे ओठों पर खेल गई। मैंने कहा "धर्म उदारता से पनप सकता है माँ, उदारता जिसमें न हो उस धर्म का संसार में कोई लाभ नहीं, वह वृथा है। आप

शायद पूर्वी पाकिस्तान और पश्चिमी पाकिस्तान के बटवारे में वहाँ छूट गईं उन मासूम बहनों के बारे में कुछ न कह सकेंगी—जिन्हें कायरों के समान हम वहाँ छोड़ कर भाग आए। उनमें हमारा ही रक्त है, हमारी ही बहन-बेटियाँ हैं वे···जब उनमें से अधिकांश को खोज कर लाया गया तो जानतीं हैं हमारे 'धर्म' ने तब क्या कहा? हमारे धर्म ने उहें ठुकरा दिया और कहा—ये विधर्मी हो चुकी हैं, इन्हें हम नहीं रख सकते? अब बताइये! उन निर्दोषों के लिये कौन-सा रास्ता है? जो धर्म इतना क्रूर है, जो अपनी सगी बहनों को ठोकर मार दे, जो धर्म इतना अनुदार है कि हम अपनी बेटी के आँसुओं को जल से भी कम समझ आँखों पर पट्टी बाँध ले, उसे आप धर्म कहती हैं?" मेरे ओठ काँप रहे थे, और हृदय गति तेजी से चल रही थी। कुमार साहब, सुजाता, नर्मदा एवं रानी माँ काष्ठवत मेरी ओर आँखें फाड़े देख रहे थे।

मैंने उसी प्रकार कहना जारी रखा "रानी माँ? मैं किसी धर्म पर कटाक्ष नहीं करता किंतु इतना निश्चय से कह सकता हूँ कि मैं ऐसे किसी धर्म में आस्था नहीं रख सकता जो मानवता को भूल जाए! मुझे ऐसे प्रत्येक धर्म के प्रति आस्था है, जो पहले इन्सान की टीस का अनुभव करे और बाद में ईश्वर की ओर देखे।"

कुमार साहब एक पर्यवेक्षक के समान हम दोनों की बातें सुनते रहे, उन्होंने किसी पर अपना कोई मत प्रकट नहीं किया, यही दशा सबकी थी।

रानी माँ ने मेरे तर्क के उत्तर में कहा "परन्तु बेटा! यह जो बातें तुम कह रहे हो, या जैसे आदमियों के बारे में तुम जोर दे रहे हो, वैसे ही यदि संसार में सब हो जाएं तो क्या एक दिन भी क्रम चल सकता है। तुम्हारे-ही शब्दों में मनुष्य भगवान नहीं बन सकता। फिर जैसे व्यक्ति तुम चाहते हो वे तो भगवान से भी बढ़ कर होंगे। समस्त संसार में दिया लेकर ढूँढ़ने पर भी ऐसे लोग दस-पाँच से अधिक नहीं मिलेंगे, और इतनी बड़ी जनसंख्या में उनकी क्या गिनती? मेरी राय

में तो जो हमारी परंपराएं चली आ रही हैं, हमें उनके आगे कभी तर्क नहीं करना चाहिये। ऐसा करते-करते एक रोज हम ईश्वर को भी भूल जाते हैं।"

मैंने कहा "मैं शत-प्रतिशत आपकी बात को ठीक मान लेता हूँ, किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि मेरी विचारधारा भी मुड़ गई। संभव है आपके दृष्टिकोण से आपकी बात ठीक ही हो।" कुछ ठहर कर मैंने कहा "सब जानते हैं कि हत्या और आत्महत्या बुरे कर्म हैं, किंतु जो मनुष्य इनकी ओर प्रवृत होता है, उसके मन से पूछिये...वह कभी इन्हें बुरा नहीं बता सकता। वह इस लिये कि उसकी दृष्टि में यह कार्य अनुचित नहीं होते।"

चौदह

केदार पुरी का रम्य सौन्दर्य देखते हुए, वहाँ की सुगन्धित वायु से अपने हृदय की कालिमाओं का परिमार्जन करते हुए हम पुनः बद्रीनाथ के पथ पर अग्रसर हो गए। केदारनाथ पुरी की संध्या की याद अब भी मेरे मानस पटल पर चित्र की भाँति अंकित है। सूर्योदय होते ही वहां के मंदिर में आरती प्रारम्भ हो जाती है और तब न जाने कितने नास्तिक आस्तिक प्रत्येक कुछ क्षण के लिये व्योम में व्यापक उन शंख, घड़ियाल एवं नगारों की ध्वनि को सुन चित्रलिखे से रह जाते हैं। एक अज्ञात भावना उन के अन्तर प्रदेश को जगा-सी देती है। ईश्वर क्या है? सृष्टा क्या है? ऐसे प्रश्न अनायास ही मन में उठने लगते हैं। किन्तु वह बाढ़ फिर शीघ्र ही शान्त हो जाती है। पुरी के चतुर्दिक घिरी घटाओं में वह खो जाता है, वे दूर स्थित स्वर्ण मंडित शिखर उसे चकाचौंध कर देते हैं, वह जिधर देखता है, उसी ओर एक नवीनता उसे दृष्टिगोचर होती है और तब वह फिर अपने प्रश्न को भूल जाता है।

मैं जब मार्ग तय कर रहा था, तो प्रातः की सुमधुर वेला में एक पुरानी समाधि मुझे अब भी दिखाई दे रही थी, जिसके निकट एक मंदिर था, और आस-पास में कुछ ऊँचे देवदार के वृक्ष मानो उस पर छत्र ताने खड़े थे। वह समाधि थी आद्य पुरुष शंकराचार्य की। उस अमर महाप्राण ने एक सिद्धान्त का प्रचार करने के लिये कितनी ऊँची मंजिल चुनी? काश, अन्धानुसरण करने वाले लोग उसके सिद्धान्त व उसके उद्देश्य को पहचानते। वह हिमालय व कन्याकुमारी से हिन्दुकुश तक एकता के सूत्र में जन-जन को पिरो देने के उद्देश्य से चला था—इसी लिये इन रमणीक स्थानों को उसने आध्यात्म केन्द्रों का रूप दिया। वह एकता का पुजारी था, किन्तु आज? आज लोग संतान माँगने इन स्थानों

तर जाते हैं, आज पति माँगने और सम्पदा माँगने इन तीर्थों की यात्रा की जाती है। कितना अधःपतन है यह !"

इस प्रकार न जाने कितनी सारी अनुभूतियों को बटोरे हम सब केदार पुरी को अन्तिम नमस्कार कर आगे बढ़ गए। उसी दिन दोपहर से पूर्व जब हम केदार पुरी से कोई दस मील पूर्व में वासुकी ताल पहुँचे तो, इस समूचे पर्वत खंड में प्रथम बार कमल के फूल देख चकित रह गए। सारा तालाव लाल और सफेद दूधिया रंग के कमल समूह से आच्छादित था। वहां एक छोटा-सा मंदिर भी था। रानी माँ ने कुछ फूल ले कर वहाँ चढ़ाए। वासुकी ताल के कमल केदार नाथ पुरी के मंदिर में चढ़ाए जाते हैं, इस कारण मंदिर की ओर से एक रखवाला वहां फूलों की रक्षा करता हमें मिला।

यहीं से बद्रीनाथ के मार्ग पर हम मुड़ गए। मार्ग में न जाने कितने यात्री मिले, सभी के चेहरों पर प्रसन्नता के भाव थे जैसे निराशा उनके पास भी न फटकी हो। लगता जैसे वे सब अपनी कर्म-भूमि की ओर बढ़ रहे हैं और उनकी कर्म-भूमि माँ के रूप में आँचल पसारे अपने पुत्रों का आलिंगन करने के लिये तय्यार बैठी हो। सब एक अदम्य उत्साह से भरे प्रतीत होते थे, उनके पैर कभी थकान का अनुभव न करते, कभी उनके माथे पर चिन्ता की रेखाएं न दिखाई देतीं। जो वृद्ध थे उनकी आँखों से श्रद्धा के भाव छलक रहे थे। जरावस्था को जैसे उन्होंने विस्मृत कर दिया था। उन भोले बच्चों की वे आँखें अभी भी मैं नहीं भूल पाया जो उत्फुल्ल हो अपनी माताओं के साथ किसी भावना लोक के यात्री के समान चले जा रहे थे। जिनकी निर्विकार, उत्सुक बुद्धि परियों के इस कल्पनालोक में आकर चकित रह गई थी। वे हर्षित थे, उनकी आंखों में जिज्ञासा के भाव थे। वे नहीं जानते थे कि सब कहां जा रहे हैं, क्यों जा रहे हैं, किंतु फिर भी वे सन्तुष्ट थे—प्रसन्न थे।

विना किनारी की सफ़ेद साड़ियाँ पहने, माथे पर चन्दन का लेप किये वे महिलाएँ, जिनके भाग्य की रेखा क्रूर-काल ने असमय में ही मेट

दी थी, ऊबड़-खाबड़ भूमि पर उसी ईश्वर की श्रद्धा में बढ़ी जा रही थीं, जिसने उनके सारे सपने तोड़ दिये थे। जिसने उनके आभूषण, शृंगार और सौन्दर्य को मृतवत् कर दिया था। प्रतीत होता था कि वे उसे अपने भाग्य की रेखा पर डाल कर मन की समस्त भावनाओं का दमन कर चुकी हैं। जितने भी दैहिक सुख हैं, उनका उन्होंने वैसे ही त्याग कर दिया है जैसे योगी अपने आप पर निर्दयता से नियंत्रण कर अपने अंग-प्रत्यंग को स्वेच्छा का वशवर्ती बना लेते हैं। उनकी आँखों में वैराग्य है, प्रकृति की यह समस्त सुन्दरता उन्हें दिखाई नहीं देती। जैसे यह संसार ही उन्होंने त्याग दिया हो, अपना परलोक सुधारने की धुन में उनके दुःख-कष्ट खोकर रह गए हैं।

साधुओं का दल झूमता हुआ खड़तालों पर भक्तिरस से ओत-प्रोत गीत गाता चला जा रहा है। उनके काषाय वस्त्रों के भीतर एक शरीर है और उसके भीतर एक मन है जो अलमस्त सरिता की लहरों के समान चंचल है। जब भूख लगेगी तब वे ईश्वर को भूल जाएंगे, जब मात्रा से अधिक खा लेंगे तब उसे पचाने के लिये चरस और भंग की कामना करेंगे। बाकी समय हरि भजन में बीत जायेगा! लोग कहेंगे—संत हैं, ईश्वर के भक्त हैं—पूजेंगे—चढ़ावा चढ़ाएगें और इसी प्रकार क्रम चलता रहेगा। सत्य दबा रहेगा, असत्य का पर्दा उसकी आत्मा को ढके रहेगा।

कितने चित्र मेरे अंतस्तल में घूम गए, और वह भी इस तेजी के साथ कि मैं अपने आप यह निर्णय भी न कर सका कि क्या उचित है और क्या अनुचित? सत्य ही तो है, उचित और अनुचित दोनों ही जुड़वाँ भाई हैं, जीवन में ये दोनों इस प्रकार घुल-मिल गए हैं कि इन्हें अलग नहीं किया जा सकता। अतः यहीं मन के तर्क को विश्राम देना पड़ा कि उचित-अनुचित का निर्णय करने वाली संसार में एक ही शक्ति है। उसी का यह कार्य है।

इस प्रकार प्रकृति के विभिन्न रूपों में व्याप्त मानव के विभिन्न रूपों को देखते हुए हम विष्णु प्रयाग और धौलागिरि की कल्पना भूमि

का साकार रूप में अवलोकन करते मार्ग की दूरी तय करते गए। कई दिनों के पश्चात धौलागिरि में पुनः हमने पुण्य सलिला अलखनन्दा के दर्शन किये। जहाँ आज तक मानव पहुँचने में असफल रहा, वहाँ का समस्त रहस्य बहा कर लाने वाली इस धारा का संघर्ष हम सभी के संघर्ष से हजार गुना वर्णनीय है। वज्रादपि कठोर पाषाणों के उर में रसधारा बहाती, शुष्क बीहड़ों में कोमलता जागृत करती, यह अपनी शीतलता से एक पवित्र वातावरण फैलाती, जन कल्याण की भावना से कल-कल निनाद करती निरंतर चली जा रही है और जब यह समुद्र में विलीन होगी तब भी इससे एक ही संदेश निकलेगा—चरैवैति···चरैवैति···!

तुगंनाथ की चोटी पर केदारनाथ पुरी से चल कर तीसरे दिन हम पहुँचे। सचमुच में यह यात्रा थका देने वाली थी किन्तु वह थकान केवल शरीर के कुछ अंगों पर ही प्रभावी हो सकी थी, मन उससे कोसों दूर था, अतः मन का उत्साह अपने सपनों में जैसे अंग को फूल सदृश उड़ाए लिये जा रहा था। अनन्त आकाश में दूर तक फैली नीलिमा शंकराचार्य के शून्यवाद की पुष्टि कर रही थी। न जाने कितने फीट की ऊँचाई थी वह, जहाँ से हिममंडित शैल-पुत्र अपनी स्वच्छ आभा से परिश्रान्त मानव को जीवन का सन्देश दे रहे थे। जहां से गंगा-यमुना की उत्पत्ति हुई है, जहां के अक्षय कोष से मानव का जीवन-रस जल, युगों से अपनी अजस्त्र धारा प्रवाहित करता आ रहा है। ओह ! कितने दया के सागर समा गए हैं इन शैल पुत्रों में ?

हे अनन्त शक्ति के भण्डार ! प्रकृति की महिमा को चमत्कृत करने वाले शिखर समूह ! जिस प्रकार तुम स्वयं घुल-घुल कर संसार के कोटि-कोटि प्राणियों की तृषा बुझा रहे हो, उनके लिये इन चेतनामय मानवों से जिनके हृदय में प्यार के अंकुर होते हुए भी वे मरुस्थल बन गए हैं, तुम प्रेरणा बनो। मैं तुम्हारी पूजा करूँगा। तुम आत्म-त्याग के महान् उदाहरण हो !

जब मुझे चेत आया, तब मैंने पाया कि मैं बह-कर यथार्थ से बहुत

दूर जा रहा हूँ—हाँ यह सच है। कहीं ऐसा न हो कि लोग मुझे पागल समझने लगें। पर, वे समझें, इससे क्या होगा। लोग संसार में आसानी से किसी को क्या जीने देते हैं ?

सामने गिरिराज हिमालय मस्तक उठाये अपनी गौरवमयी गाथा को अपने तेज से उद्भासित कर रहा है। उसके सहस्रों सहायक अपनी मौन, किन्तु भावनामयी अनुभूति से जन-जन की अन्तरात्मा में उमंग की हिलोरें भर रहे हैं। उनके आस-पास फैली हरियाली, उस हरियाली के बीच बुरुसे के फूल दूर से अपना रंग बिखेर रहे हैं। इस रम्य देव घाटी के बीच तुंगनाथ का पुरातन मंदिर दम साधे खड़ा है। न जाने कितने मौसम उसने देखे हैं, कितनी बरसातें और कितनी धूपें खा-खा कर उसका रंग काला पड़ गया है। परिवर्तन का रंग ही काला है। जो समय बीत जाता है वह अपने अतीत के साथ एक शून्य छोड़ जाता है, जो कालान्तर में ऐसा ही रंग धारण कर लेता है।

घाटी के एक ओर छोटी सी बस्ती बसी है, जहाँ धर्मशालाएँ हैं और यात्रियों के ठहरने के लिये दुकानें किराये पर मिल जाती हैं। अपना सामान एक धर्मशाला में पटक कर मैं घाटी की ओर निकल गया। मुझे उस रोज वहाँ के एकान्त से ही एक प्रश्न पूछना था—वह प्रश्न अपने ही बारे में था—हाँ आज मैं एकान्त से ही पूछूँगा—अपना भविष्य ? हाँ यही तो प्रश्न है। पूछूंगा।

आज बहुत दिनों के बाद मुझे सुजाता के बारे में कुछ सोचने का अवसर मिला—मंदिर के एक ओर एक छोटा सा झरना बह रहा था। उसके धुएँ सदृश कण बहुत नीचे गिर कर बड़े-बड़े शिला खण्डों से टकरा रहे थे। दूर से देखने पर वहाँ एक प्रकार की धुंध सी छाई दिखाई देती।

मैं इधर-उधर देख कर उसी प्रपात के निकट बैठ गया। संसार के अच्छे बुरे बहुत से चित्र मेरे सामने एक-एक कर के नाच रहे थे। कभी मन करता मैं अकेले आगे बढ़ जाऊँ, कभी सोचता अब मैं नीचे उतर

जाऊँ। वहाँ तरह-तरह के आदमी होंगे, तरह-तरह की चीजें होंगी—सिनेमा, बड़े-बड़े होटल और चमकीली कारें मुझे दिखाई देने लगीं, वहाँ का जीवन कुछ भी हो उसमें रस है। इनको मैंने बहुत देख लिया है।

मनुष्य का मन इतना चलायमान है शायद संसार की कोई भी शक्ति उसका सामना नहीं कर सकती। उसे पल भर में पलट देना साधारण व्यक्तियों के बस की बात नहीं। फिर मैं तो एक अकिंचन हूँ।

कोई धीमी-सी आवाज सुनाई दी—

"बिना नाश्ता किये ही क्यों चले आए ?"

"अरे तुम ?" मैं चौक पड़ा।

"हाँ" वह बोली "आप बिना नाश्ता किये चले आए थे न, इसीलिये मैं पूछने आ गई।"

"मेरी कोई इच्छा न थी सुजा, इस लिये चला आया।" मैंने उत्तर दिया।

"डैडी कहते थे……"उसने रुक-रुक कर कहना प्रारम्भ किया "कि लगता है वे कुछ नाराज हैं। ऐसा ही रानी माँ कहती थीं। आखिर बात क्या है ?"

मैंने सहज भाव से उत्तर दिया "ऐसी कोई बात मेरे मन में नहीं सुजा। मैं हृदय से किसी पर नाराज नहीं होता। मतों में अन्तर होना स्वाभाविक है, किन्तु इससे नाराजगी का तो कोई सम्बन्ध ही नहीं।"

सुजाता मेरे निकट ही बैठी घास के एक तिनके को दाँत से काटती रही। वह किसी गम्भीर चिंता में पड़ी लगती थी और उसकी आंखे शून्य सम लग रही थीं।

मैंने उसे चुप देख कर कहा "फिर मैं क्यों किसी पर नाराज हो सकता हूँ सुजाता! इन बीहड़ों में जिन्होंने मेरा साथ दिया, जो मेरे प्रत्येक दुःख-सुख के भागी रहे, जिन्होंने मेरी व्यथा में हिस्सा बँटाया, उन्हें भूल जाऊँ, ऐसा कृतघ्न मुझे न समझो।" कुछ ठहर कर मैंने उस की ओर देखते हुए पूछा "अब तुम कैसी हो ?"

"ठीक ही हूँ" धीमे स्वर में वह बोली, कुछ देर हम दोनों मौन बैठे झरने की ओर देखते रहे। इस बार मैंने झरने को नये रूप में देखा। मुझे लगा जैसे झरने के संगीत में कोई गा रहा है। सर्व साधारण इसे कल्पना की बहक का नाम दे सकते हैं, किन्तु इससे घबरा कर हृदय की बात नहीं रोकी जा सकती। मुझे लगा जैसे झरने के रूप में शैल खंड के आँसू बह रहे हों, और यह कल-कल की ध्वनि, जिसको लेकर कवियों ने काव्य रच डाले हैं, केवल वेदना का गीत हों। जार्ज बर्नार्डशॉ ने अपने डाक्टर से कहा था "तुम मुझसे उन निरीह जीवों की चर्बी और माँस खाने को कहते हो? एक जीव को खाकर दूसरा जीव अपनी आयु वृद्धि करे! यह मानव का अधःपतन है डाक्टर! मैं मछली, माँस खाकर अपना जीवन बचाने की अपेक्षा अभी इस संसार से उठ जाना पसंद करूँगा। मैं चाहता हूँ डाक्टर! कि जिस दिन मैं मरूँ उस दिन वे मछलियां भी मेरे लिये आँसू बहा कर कहें—ओह! आज संसार का एक बहुत भला व्यक्ति चल दिया।"

यही तो जीवन है, जिस जीवन में स्वयं के लिये जीने का प्रश्न हो उससे क्या लाभ! इन शैल खंडों को लोग निर्जीव कहते हैं, जो अपने आंसुओं से मानव की प्यास बुझाते हैं और स्वयं वे जीवन वाले कहलाते हैं, जो दूसरों की सांस छीन लेते हैं!

"आप क्या सोचने लगे?" सुजाता ने मेरा ध्यान भंग कर पूछा।

"जितना कुछ आदमी सोचता है, वह सभी ठीक होगा, ऐसा मैं नहीं समझता" मैंने एक फीकी हँसी के साथ कहा। मैं बोला "खैर छोड़ो इन बातों को, और एक बात बताओ।"

"पूछिये" उसने गर्दन नीचे कर ली।

मैंने पूछा "वैसे तुम्हारा यह सादा वेश मुझे बड़ा ही रुचिकर लगता है, फिर भी सुजाता! तुम्हारी आयु की लड़कियों को यह मीरा जैसा वेश ठीक नहीं लगता। अब तो तुम ठीक होती जा रही हो पागल, फिर ऐसी क्यों दिखाई देती हो?"

जाऊँ। वहाँ तरह-तरह के आदमी होंगे, तरह-तरह की चीजें होंगी—सिनेमा, बड़े-बड़े होटल और चमकीली कारें मुझे दिखाई देने लगीं, वहाँ का जीवन कुछ भी हो उसमें रस है। इनको मैंने बहुत देख लिया है।

मनुष्य का मन इतना चलायमान है शायद संसार की कोई भी शक्ति उसका सामना नही कर सकती। उसे पल भर में पलट देना साधारण व्यक्तियों के बस की बात नहीं। फिर मैं तो एक अकिंचन हूँ।

कोई धीमी-सी आवाज सुनाई दी—

"बिना नाश्ता किये ही क्यों चले आए ?"

"अरे तुम ?" मैं चौक पड़ा।

"हाँ" वह बोली "आप बिना नाश्ता किये चले आए थे न, इसीलिये मैं पूछने आ गई।"

"मेरी कोई इच्छा न थी सुजा, इस लिये चला आया।" मैंने उत्तर दिया।

"डैड़ी कहते थे……"उसने रुक-रुक कर कहना प्रारम्भ किया "कि लगता है वे कुछ नाराज हैं। ऐसा ही रानी माँ कहती थीं। आखिर बात क्या है ?"

मैंने सहज भाव से उत्तर दिया "ऐसी कोई बात मेरे मन में नहीं सुजा। मैं हृदय से किसी पर नाराज नहीं होता। मतों में अन्तर होना स्वाभाविक है, किन्तु इससे नाराजगी का तो कोई सम्बन्ध ही नहीं।"

सुजाता मेरे निकट ही बैठी घास के एक तिनके को दाँत से काटती रही। वह किसी गम्भीर चिंता में पड़ी लगती थी और उसकी आंखे शून्य सम लग रही थीं।

मैंने उसे चुप देख कर कहा "फिर मैं क्यों किसी पर नाराज हो सकता हूँ सुजाता! इन बीहड़ों में जिन्होंने मेरा साथ दिया, जो मेरे प्रत्येक दु:ख-सुख के भागी रहे, जिन्होंने मेरी व्यथा में हिस्सा बँटाया, उन्हें भूल जाऊँ, ऐसा कृतघ्न मुझे न समझो।" कुछ ठहर कर मैंने उस की ओर देखते हुए पूछा "अब तुम कैसी हो ?"

"ठीक ही हूँ" धीमे स्वर में वह बोली, कुछ देर हम दोनों मौन बैठे झरने की ओर देखते रहे। इस बार मैंने झरने को नये रूप में देखा। मुझे लगा जैसे झरने के संगीत में कोई गा रहा है। सर्व साधारण इसे कल्पना की बहक का नाम दे सकते हैं, किन्तु इससे घबरा कर हृदय की बात नहीं रोकी जा सकती। मुझे लगा जैसे झरने के रूप में शैल खंड के आँसू बह रहे हों, और यह कल-कल की ध्वनि, जिसको लेकर कवियों ने काव्य रच डाले हैं, केवल वेदना का गीत हों। जार्ज बर्नार्डशॉ ने अपने डाक्टर से कहा था "तुम मुझसे उन निरीह जीवों की चर्बी और माँस खाने को कहते हो? एक जीव को खाकर दूसरा जीव अपनी आयु वृद्धि करे! यह मानव का अध:पतन है डाक्टर! मैं मछली, माँस खाकर अपना जीवन बचाने की अपेक्षा अभी इस संसार से उठ जाना पसंद करूँगा। मैं चाहता हूँ डाक्टर! कि जिस दिन मैं मरूँ उस दिन वे मछलियां भी मेरे लिये आँसू बहा कर कहें—ओह! आज संसार का एक बहुत भला व्यक्ति चल दिया।"

यही तो जीवन है, जिस जीवन में स्वयं के लिये जीने का प्रश्न हो उससे क्या लाभ! इन शैल खंडों को लोग निर्जीव कहते हैं, जो अपने आंसुओं से मानव की प्यास बुझाते हैं और स्वयं वे जीवन वाले कहलाते हैं, जो दूसरों की सांस छीन लेते हैं!

"आप क्या सोचने लगे?" सुजाता ने मेरा ध्यान भंग कर पूछा।

"जितना कुछ आदमी सोचता है, वह सभी ठीक होगा, ऐसा मैं नहीं समझता" मैंने एक फीकी हँसी के साथ कहा। मैं बोला "खैर छोड़ो इन बातों को, और एक बात बताओ।"

"पूछिये" उसने गर्दन नीचे कर ली।

मैंने पूछा "वैसे तुम्हारा यह सादा वेश मुझे बड़ा ही रुचिकर लगता है, फिर भी सुजाता! तुम्हारी आयु की लड़कियों को यह मीरा जैसा वेश ठीक नहीं लगता। अब तो तुम ठीक होती जा रही हो फिर ऐसी क्यों दिखाई देती हो?"

कितना चंचल होता है, यह शायद बताने की आवश्यकता नहीं है। मैं ईश्वर नहीं बनना चाहता सुजा ! इसीलिए तुम से यह बात नहीं छिपाऊँगा कि जिस रूप में तुम मुझे चाहती हो, उस रूप में मैंने भी कई बार चाहा है, किन्तु तरंगे शाश्वत नहीं होतीं यही जानकर मेरे विचार ठीक स्थान पर स्थिर हो गए। तुम्हें शायद मेरी बात रुचिकर न लगे किन्तु एक अच्छे वैद्य के सामान मुझे इस बात का भी पता है कि रोगी के लाख कहने पर भी उसे उसकी इच्छित चीज नहीं दी जाती। मैंने तुम्हारे साथ सर्वथा एक चिकित्सक के समान व्यवहार किया, और मुझे इस बात की बड़ी प्रसन्नता है सुजा !"........मैंने उसी प्रकार वाक्य पूरे किये "........कि तुम ठीक हो गई हो। तुम यह न समझो कि मैं तुम्हें प्यार नहीं करता। जीवन भर के लिए तुम मेरे हृदय में बैठ चुकी हो किन्तु मेरा प्यार एक माली के सदृश है। भला तुम्हीं बताओ, कोई माली अपने लगाए पौधे का विनाश देख सकेगा ? वह कभी नहीं देख सकता सुजा ऐसा ! उसे अपने पौधे से प्यार होता है, इतना प्यार जितना मां को अपने इकलौते लाल पर हो सकता है।"

........मैं देखता गया, इस बीच मेरे अश्रुपूरित नेत्रों को देख उसके मुख के हाव-भाव क्षण-प्रतिक्षण परिवर्तित होते रहे, उसके माथे की रेखाओं में उतार-चढ़ाव आते रहे और जब मैं चुप हो गया तो वह आँखों में असीम वेदना लिए उठ कर मेरे निकट आ गई। भरे कंठ से उसने कहा "आप यही बात अगर पहले समझा कर मुझे बताते तो मैं इतनी दुःखी फिर क्यों होती ? मुझे किसी भी कीमत पर एक चीज चाहिये, और उसके लिए मैं अपनी एक-एक साँस तक अर्पित कर सकती हूँ........मुझे जीवन का अन्त करके भी एक चीज चाहिये, और वह क्या है यह आपसे छिपा नहीं है।"

"हाँ" मेरे मुंह से अकस्मात निकल गया "मुझे पता है, मैं जानता हूँ सुजा ! मैं तुम्हें बद्रीनाथ चल कर जो कुछ कहूँगा, उसकी तुम प्रतीक्षा करो। हमारी वर्तमान यात्रा की मंजिल अब निकट है........जिस

दिन मैं तुम्हें अपने हृदय की बात बताऊँगा उस दिन की प्रतीक्षा करो सुजा ! यह तुम निश्चय जान रखो कि तुम्हारा हित-चिन्तक होने के नाते मुझे तुम्हारे मान-सम्मान, प्रतिष्ठा का पूरा ध्यान है।"

वह उसी प्रकार बैठी रही। मैंने उसे उठाते हुए कहा "उठो सुजा ! अब चलें।"

वह मेरे साथ चुपचाप चल पड़ी। उसके पैर न जाने कैसे उठ रहे थे यह ईश्वर ही जानते हैं किन्तु तब देखने से ऐसा प्रकट होता था जैसे मन से वह हार गई है और जैसे उसने अपने आप ही अपना वचन भी हार दिया है।

पन्द्रह

आखिर मंजिल आ ही गई। १०४८० फीट की ऊँचाई पर बसी इसी भूमि के बारे में कहा जाता है कि कभी जब पृथ्वी पर अनाचार बढ़ गए थे, तब नर नारायण ने यहां कठिन तपस्या की थी। इस बात को अन्तर्यामी ही जानते हैं, मैं तो केवल इतना ही कहूँगा कि जिनकी यह सारी रचना है, जिन्होंने खेल-खेल में इस सृष्टि को इतनी सुन्दरता दे डाली कि प्रत्येक का मन यहाँ उसके चिन्तन में आत्मसात हो जाता है, जिसने अपनी सम्पूर्ण कला लगा कर इन पर्वतों को हिम का मुकुट पहना दिया है, जो यहां के कण-कण में व्याप्त हैं, उसे तप करने और मनुष्य की देह धारण करने की क्या आवश्यकता ? किंतु मैं जिसे प्रत्येक स्थान पर देखता हूँ उसके किसी भी प्रचलित रूप रंग के बारे में आलोचना क्यों करूँ ?

विशाला पुरी अलखनंदा के दाएँ तट पर स्थित है और इसके दोनों ओर ये ऊँचे पर्वत खड़े है जिनकी चोटियां श्वेत हिम से आच्छादित ऐसी ही लगती है जैसे बाल्यावस्था से ही कोई योगी, अविचल भाव से साधना करता-करता वृद्ध हो गया हो। इन पर्वतों को नर नारायण पर्वत कहा जाता है। उनके बीच की ऊँचाई पर नगर है, सभी प्रकार की सुख-सुविधाएँ यहां हैं। एक ओर बद्रीनाथ मंदिर खड़ा न जाने कब से तपस्या कर रहा है। कब उसकी मनोकामना पूर्ण होगी, यह ईश्वर ही जानते हैं। आद्य शंकराचार्य द्वारा स्थापित यह पत्थरों की बोलती दीवार न जाने कितने मानवों की श्रद्धा भक्ति और अनुराग का भंडार है। कितने मानव यहां मोक्ष की कामना लेकर आते हैं, और फिर वापस जाकर वे पुन: किस प्रकार सब कुछ भूल जाते हैं। इसमें शंकराचार्य की कोई बात नहीं। मानव की प्रकृति जल-तरंगों जैसी है, वह जान बूझ कर दु:खों का वरण

नहीं करना चाहता। यही उसकी कमजोरी है और इसी लिए मुक्ति के उसके सारे प्रयास व्यर्थ हो जाते हैं।

मैंने रानी मां के साथ उस मंदिर की कई बार परिक्रमा की, कला की दृष्टि से कुछ न होते हुए भी उसमें एक चुम्बक सदृश शक्ति अवश्य छिपी थी। संभव है वह अपने अन्तर् की भावना का ही प्रतिबिम्ब हो फिर भी जो था उससे इन्कार नहीं किया जा सकता। इतने ऊँचे हिम शिखरों को भी जैसे यह मंदिर चुनौती देता जान पड़ता, इसकी ऊँचाई भी अपनी सानी नहीं रखती थी। वह कहती लगती—प्रति वर्ष इतने सारे मानव नंगे पैरों चल कर पर्वतों की पूजा करने नहीं आते, मेरे चरणों में अपनी श्रद्धा के पुष्प अर्पित करने आते हैं, किंतु यह सब तो मेरे मन के तर्क-कुतर्क हैं। कोई मंदिर ऐसा नहीं कहता, यह सब अपने विचारों के प्रवाह हैं।

जिस दिन हम बद्रीनाथ पुरी पहुँचे, उस दिन अपनी मंजिल तक पहुँचने की प्रसन्नता में हमारे हृदय कमलों की तरह खिल गए, रानी मां ने श्रद्धा भाव से शून्य को प्रणाम करते हुए कहा "भगवान तुम्हारे चरणों तक पहुँच ही गई हूँ, अब इन्हीं में पड़े रहने देना।"

नर्मदा ने अपनी मां के चेहरे की ओर देखा, तो उनके श्रद्धानत मुख-मण्डल को देख उसकी आंखें सजल हो उठीं। उसके इस भाव में अपनी मां के दु:खों के प्रति असीम संवेदना थी, साथ ही जब उसका हाथ अपनी मांग की ओर गया तो जैसे उसे विषधर ने डस लिया हो, वह पल भर को हतप्रभ हो गई। संभवत: उसे अपनी रीती माँग की स्मृति हो आई थी। मैंने देखा उसकी बड़ी-बड़ी आंखें, जिन में दु:ख और नैराश्य का सागर लहराता रहता था, एक बार डबडबा आईं—फिर उसने इधर-उधर देख कर उन्हें सोख लिया। मन ही मन मैंने कहा—भारतीय नारी? क्या तू खुल कर कभी रो भी नहीं सकती?

ऐसी लग रही थी जैसे लाल कमल समूह के बीच अवस्थित कोई श्वेत कमल। उसने कुमार साहब की छड़ी अपने हाथ में ली हुई थी, और आज वह सर्वाधिक प्रसन्न लगती थी। फिर कुमार साहब क्यों न प्रसन्न होते। दूसरे सकुशल मंजिल पर पहुँच जाने का हर्ष सबके चेहरों पर झलक रहा था।

जिस धर्मशाला में हम ठहरे हुए थे, पता लगा कर कुछ पंडे वहां आ धमके और उन्हों ने स्वर्ग-नरक, पाप-पुण्य के जो चित्र उपस्थित किये वे कितने हास्यास्पद थे कह नहीं सकता। उस महान संस्कृति के रक्षक धर्म की क्या यही व्याख्या है? पैसा! पैसा!! पैसे से ही हमारे पुरखाओं को स्वर्ग मिल सकता है, पैसा ही हमें मोक्ष दिला सकता है।

एक पंडे ने रानी मां को मन्दिर में पूजा कराने के लिये अपनी सेवाएं अर्पित कर दीं, मुझसे भी एक पंडे ने कहा "बाबू साहब! पूजा करा दूँगा।"

मैंने रानी मां की ओर संकेत कर कहा "ये ही हम सब की पंडा हैं, हम तो इन्हीं के द्वारा पूजा कर लेंगे।" मुझे पंडे का आग्रह देख, हँसी भी आ गई। हँसी के बीच मैंने कहा—"पंडित जी, क्या भगवान की सेवा कोई सीधे नहीं कर सकता? वहाँ भी दुभाषिये की जरूरत पड़ती है क्या?"

इस बात पर पंडे को छोड़ सभी हँस पड़े, रानी माँ ने कहा "तुम लोग, आजकल के लड़के, सब कुछ भूल गए हो, अब थोड़े दिनों में कहने लगोगे माँ-बाप कौन होते हैं? हम तो पत्थर से पैदा हुए हैं।"

कुमार साहब ने उनकी बात का समर्थन किया "यह अभी कह देंगे।"

"हाँ" मैंने हँस कर कहा "मैं कह सकता हूँ रानी माँ, पर फीस के रूप में मिठाई पहले मुझे, बाद में भगवान को देनी होगी।"

फिर एक ठहाका लगा।

× × × × ...

अगले दिन प्रातः ही अलखनन्दा में मुझे भी सबके कहने पर स्नान करना पड़ा। भक्ति-रस में डूबे हजारों यात्रियों ने उस ठंडे जल में स्नान किया। उत्साह और श्रद्धा में न जाने वह सारी शीत कहां चली गई। मैं भी किस पत्थर का बना हूँ, कि इतने धर्मानुरागियों के बीच भी उनके कल्पित ईश्वर के प्रति सहानुभूति प्रगट नहीं कर पाता। लोग हँसेंगे, सहानुभूति कैसी ? वह तो ईश्वर ही है। इतने पर भी उसके प्रति मेरा मन नमन नहीं करता। प्रातः की उस शीत से मैं ठिठुर कर दोहरा हो गया, किंतु स्नान के पश्चात मन को शान्ति मिली। लोग अब भी आकर स्नान कर रहे थे। तरह-तरह की लयों में श्लोक, मन्त्र गुन-गुनाए जा रहे थे, कोई-कोई व्यक्ति जिसे कोई स्तोत्र नहीं आता वह केवल "शिव-शिव" या "राम-राम" ही रट कर सन्तुष्ट हो जाता। चारों ओर गुंजन-सा हो रहा प्रतीत होता था। नदी के तट पर पंडे बैठे चंदन लगा कर भक्तों से ईश्वर के नाम पर कर वसूल करते दिखाई दे रहे थे। वे भी बाध्य थे, क्या करते। सभी तो ईश्वर के नाम पर लेते हैं। उदर-पूर्ति अपनी करते हैं, नाम ईश्वर का होता है, फिर यदि पंडे ऐसा करते हैं तो क्या बुरा है।

वहाँ से निर्धारित पंडे के साथ हम बहुत-सा सामान लेकर बद्री विशाल के मंदिर पंहुचे। वहां पहले से ही अपार भीड़ जमा थी। मंदिर के द्वारों पर कई भक्त चित्त लेटे, नयन मूंदे अपने आराध्य के ध्यान में निमग्न थे। उनमें बच्चे, बूढ़े, युवक सभी थे। काषाय वस्त्र-धारी साधु-संन्यासी जोर-जोर से त्राहिमाम ! त्राहिमाम ! कर रहे थे। इनमें कितने ही अपनी इच्छाओं की पूर्ति की माँग कर रहे थे, सब याचक ही थे—ढूंढ़ने पर साधक भी शायद कोई मिल जाता, किंतु ऐसा प्रयास भी मैंने न किया।

मंदिर के भीतर काले वर्ण के रंग की दो मूर्तियां विभिन्न परि-धानों में सजा दी गई थीं, नर-नारायण की उन मूर्तियों के रूप-रंग में

और पुष्प बिखरे पड़े थे। सामने मंदिर के रावल एक विशेष प्रकार के वस्त्र पहने विधिवत पूजा कर रहे थे। उनके आस-पास और बहुत से पण्डे इधर से उधर दौड़ रहे थे, चारों ओर धूप की सुवासित गंध बह रही थी। कई भाव-विभोर भक्तों की आँखों से आनन्दाश्रु बह रहे थे, जिनमें रानी मां भी थीं। चढ़ावे चढ़ गए और फिर आरती प्रारंभ हुई। भोर की उस पवित्र वेला में एक बार शंख, घंट, घड़ियाल झन-झना उठे, नक्कारों पर चोबें पड़ गईं—सहस्रों कंठों से समवेत आरती का स्वर गूंज उठा, लोग क्षण भर को उसी भाव में विभोर हो गए। फिर थाली में आरती की ज्योति को प्रणाम कर सबने उन हाथों को अपनी आंखों से छुआया, फिर हृदय से लगा लिया, प्रसाद के लिये लोग टूट पड़े, बदरी विशाल के चरणों का प्रसाद, उनकी भक्ति का वरदान ही तो था, जो न जाने कितने मैदानों को चीर, कितनी गिरिश्रृंखलाओं को फांद कर यहाँ तक पहुँच सके हैं। मखाने और तिसूती डोरा ही वहाँ का पवित्र प्रसाद व निशानी माने जाते हैं। डोरे को गले में बांध कर यात्री समस्त आपद-विपदाओं से निर्भय हो जाते हैं।

पूजा से निवृत्त होकर हम पुनः अपने डेरे पर लौट आए। दिन भर मौसम बहुत सुहावना रहा, हल्की-हल्की फुहारें पड़ती रहीं। देवदार, बाँज, चीड़ और हरे-हरे वृक्षों को वर्षा ने जो स्नान करा दिया था उस से उनकी हरियाली में और भी निखार आ गया था, पार की घाटी में फूले बुरुंसी और फ्यूंली के लाल-लाल फूलों ने अपनी मोहकता से वातावरण को जैसे और भी आकर्षक बना दिया था। सारे दिन धर्म-शाला के चतुर्दिक छाई उस देवभूमि की बहार हम देखते रहे।

शाम होते ही मैं सुजाता को लेकर अलखनन्दा के तट की ओर टहलने निकल गया। उस दिन वह प्रमुदित मन से मेरे साथ चल रही थी।

संध्या का सुहावना समय था, जब हम दोनों अलखनन्दा की शान्त लहरों को देखते हुए एक चिकने से शिलाखंड पर बैठे नदी की तीव्र

जल धारा में कंकर फेंक रहे थे। सुजाता और मैं दोनों अब तक मौन बैठे थे। उसकी चेष्टाओं को देख कर लगता था जैसे वह आज मेरी बातें सुनने को अत्यधिक उत्सुक हो। इसका आभास तब होता जब वह जल्दी-जल्दी में अपनी साड़ी के पल्ले को दांतों से चबाने जैसा उपक्रम करती।

उधर मंदिर में शंख ध्वनि और घंट निनाद ने आरती होने की सूचना दी, साथ ही कई ढोल बज उठे। मंदिर से इतनी दूर बैठे आज जितने अच्छे वे स्वर लग रहे थे, उतने मंदिर में जाने पर नहीं जान पड़ते। यहाँ की भीनी-भीनी हवा में वे आरती के स्वर मानो सुगन्धि बन कर तैर रहे थे।

मैंने सुजाता का ध्यान भंग करते हुए कहा "चुप क्यों हो सुजा ?"

वह जैसे किसी स्वप्नलोक से उठा कर फेंक दी गई हो, एकदम उसने चौंक कर कहा "जी !"

मैंने कहा "चुप क्यों हो ?"

"ओह" वह स्तब्ध भाव से बोली, जैसे किसी ने उसे निद्रा के आँचल से उठा दिया हो, फिर अत्यन्त ही धीमे स्वर में वह बोली "अब मैं क्या कहूँ जी ?"

'आज तुम बच्चियों की सी भाषा में क्यों बोल रही हो सुजा !" मैंने सहास्य पूछा।

उसके मोतियों जैसे दाँत उस धुँधलके में भी चमक उठे। उत्तर में उसने लजा कर अपनी गर्दन नीची कर ली। क्षण भर तक स्तब्ध और विस्मित हो मैं उसे देखता रहा, फिर मैंने ही बात प्रारम्भ की। वही बात जिसे कई दिनों से मैं अपने हृदय में दबाए पड़ा था।

मैंने कहा "देखो सुजा, अब तुम बच्ची नहीं रही, बहुत बड़ी हो गई हो। अपना अच्छा बुरा समझती हो, मैं तुम्हारा और तुम्हारे पिता का परम हित चाहने वाला आदमी हूँ इसी नाते तुम आज मुझे दो वचन दो।"

उसने सशंकित हो मेरी ओर देखा, क्षण भर तक वह इसी प्रकार मेरी ओर देखती रही और फिर जैसे वह बड़े असमंजस में पड़ी हो, धीमे से उसने पूछा "क्या वचन आप चाहते हैं ?"

"तुम अलखनंदा के तट पर बैठी हो, सुजा।" मैंने भावपूर्ण स्वर में कहा "पगली, मुझ पर पहले विश्वास करो, और फिर वचन दो।"

किसी अबोध बालिका को जैसे नये और अजनबी व्यक्ति से भय लगता है और वह सहम कर उससे व्यवहार करती है, उसी प्रकार सुजाता ने भी डरी-डरी आवाज में कहा "आपको क्या मुझ पर विश्वास नहीं है, जो वचन ले रहे हैं ?"

"मैं जानता हूँ" मैंने कहा "तुम मेरी बात टाल नहीं सकती किन्तु आज़ मैं तुमसे बहुत बड़ी बात कहने वाला हूँ। एक इतनी बड़ी बात, जिससे तुम्हारे जीवन में पूर्ण रूप से बहार छा जायेगी। तुम शान्ति की साँस ले सकोगी, जल्दी करो सुजा। तुम्हारा सुनहरा सवेरा आ रहा है।"

वह भावों में डूब गई लगती थी, मेरी बात समाप्त होते ही उसने भाव भरे स्वर में कहा "सच जानो, जो कुछ कहोगे मुझे स्वीकार होगा।

"अब ठीक है" मैंने कहा—"तुम मेरे एकदम पास बैठ जाओ।"

वह मेरी आज्ञा का पालन कर चुपचाप मुझसे सट कर बैठ गई। मैंने कहना शुरू किया "सुजा ! जरा ठीक से याद करो, जब हमने यात्रा प्रारम्भ की थी, तब तुमने क्या कहा था ?"

"मुझे तो याद नहीं" उसने कहा "आप ही बता दें।"

"तुम्हें शायद याद होगा, जब हम सोमेश्वर में ठहरे थे" मैंने उसे याद दिलाते हुए कहा "अगले दिन भोर ही हम दोनों एक श्मशान भूमि की ओर निकल गए थे।"

"हाँ—हाँ" उसने हामी भरी।

"तुमने कहा था सुजा" मैंने बात आगे बढ़ाई "कि जिसमें आपका भला हो, उस काम को करना मैं अपना सौभाग्य समझूँगी। इसके अतिरिक्त मार्ग में कई बार तुम इस बात को दोहरा चुकी हो।"

"हां" उसने पुन हामी भरी किन्तु इस समय उसका स्वर बदला हुआ-सा था, उसमें कुछ आशंकित भय की भावना छिपी थी।

मैंने कहा "तब सुनो सुजा! परसों मैं अपनी आगे की यात्रा प्रारम्भ कर दूँगा और बिना एक भी बूँद आँसू बहाए तुम्हें कुमार साहब को सहारा देकर वापस ले जाना होगा। तुम पर उन्हें कितना प्यार है सुजा, शायद उसी पिता की पुत्री हो कर भी तुमने आज तक यह बात नहीं सोची। तुम उनके बुढ़ापे का सहारा हो। जानती हो जब तुम जीवन और मृत्यु के दोराहे के बीच भूल रही थी, तब वे इतने दुःखी थे, कि उस समय अपनी रक्त की एक-एक बूँद सर्मपित करके भी वे काल से तुम्हारी जिन्दगी को लौटा लाते। देखो, तुम संसार से दूर जाने की बात सोचा करती थी, शायद तुम्हें स्मरण होगा मैंने तुम से द्वाराहाट के उन पुरातन मन्दिरों की पवित्र छाया में कहा था, कि किसी को मारने-जिलाने की शक्ति मनुष्य में नहीं है। वह नदी नालों को बाँध कर पानी का रुख मोड़ सकता है, वह आकाश की ऊँचाइयों को चीरता हुआ चाँद तक पहुँचने के स्वप्न में सफल हो सकता है, किन्तु वह किसी को न तो जीवनदान दे सकता है और न मौत दे सकता है। एक इन्सान दूसरे इन्सान को केवल स्नेह और धैर्य ही दिला सकता है, क्योंकि कभी जब इन्सान जीवन से ऊब जाता है तब उसे अपनी कोई चिन्ता नहीं रहती—ठीक उसी प्रकार जैसे कि तुम्हारी मनोदशा थी। सुजा! मैं पूर्ण स्वतन्त्र व्यक्ति हूँ, मुझे किसी का हित करने में जो आनन्द आता है, वह किसी कार्य में भी नहीं मिलता। तुम्हारे जीवन में भी मैं इसी प्रकार आया था, मैंने तुम्हें करुणा और वेदना के सागर में आठों पहर डूबे देखा। सच कहता हूँ सुजा! मैं किसी को दुःखी नहीं देख सकता, उस का दुःख दूर करने के लिये मैं अपने जीवन की एक-एक साँस तक चढ़ा देने में एक हार्दिक सुख का अनुभव करता हूँ। मैंने कौसानी के डाकबंगले में जब कुमार साहब को देखा था, और उनसे तुम्हारा हाल सुना था तभी मैं सारी रात सो

नहीं पाया था। तब से अब तक तुम्हारे साथ मैं चलता आ रहा हूँ। तुम्हारी मंजिल आ गई किन्तु मेरी मंजिल अभी दूर है......न जाने कितनी दूर......शायद मैं जीवन के अन्तिम क्षण तक चलता जाऊँगा और न जाने कितनों के दुःखों में हिस्सा बंटाना होगा। तुम योग्य पिता की योग्य पुत्री हो सुजा! ईश्वर करे तुम्हारा जीवन सुखी हो, तुम दिन-पल फूलो फलो। यह सत्य जानो, मेरे हृदय में तुम्हारा बहुत बड़ा स्थान है, इसे और भी ऊंचा स्थान दिलाने के लिये तुम्हारे सहयोग की बड़ी आवश्यकता है। मुझे भटकने से बचाओ सुजा! मुझे अभी बहुत आगे जाना है......बहुत आगे जाना है......" कहते-कहते मेरी आँखें छलछला आईं और गला भर आया,—मैंने भरे हुए गले से कहा "तुम नहीं जानती सुजा! मैं आज तुम्हारे बीच में अपने को कितना सुखी अनुभव कर रहा हूँ......आहा आज मैं बहुत खुश हूँ......अब तुमने नया जन्म लेकर एक स्वर्णिम प्रभात में प्रवेश किया है!"

सुजाता पत्थर की मूर्ति बन गई थी। जब मैंने उसे कई बार झिझोड़ा तब कहीं उसके मुँह से "हूँ" निकला।

मैंने कहा "उठो सुजा! अब हम चलें।"

वह उठी और यंत्रचालित खिलौने के समान मेरे साथ चलने लगी। मैंने उससे जो कुछ पूछा उसने केवल हाँ-ना में उसका उत्तर दे दिया और गुम-सुम सी वह चलती रही।

ऊपर सड़क पर पहुँच कर वह खड़ी हो गई, उसने बड़ी ही दीन वाणी में रुँधे हुए गले से कहा "मुझे भी एक वचन दोगे?"

"माँगो!" मैंने निर्भय होकर कहा।

"जहाँ भी रहोगे मुझे मास में एक पत्र डाल दिया करोगे न?"

"यह भी तुमने खूब कही" मैंने तनिक अनुराग के स्वर में कहा "पत्र एक छोड़ दो भेजूँगा, पर अपने ब्याह में बुलाना तो नहीं भूल जायगी?"

"छोड़ो यह मखौल" उसने तनिक आगे हटते हुए कहा और फिर वह छाया की भाँति ठिठक कर खड़ी हो गई। मैं सोच भी न सका कि इतनी शीघ्र वह पागल रोने लगेगी। बच्चों के समान रोते हुए उसने मेरे पैरों पर अपना सर रख दिया और उसके आंसुओं से मेरे पैर गीले हो गए। रोते-रोते उसने कहा "तुम मेरे वास्तविक गुरू हो। आज से मैं प्यार में तुम कह कर अपने हृदय में पूजूँगी। तुमने जो कुछ मेरे अन्तराल में भर दिया वह कभी मार्ग से मुझे भटकने न देगा। ईश्वर करे तुम्हारा मार्ग प्रशस्त हो, तुम्हारे काँटे मुझे लग जांए और तुम्हारा मार्ग निष्कंटक रहे।"

मेरा रोम-रोम सुजाता के प्रति श्रद्धा से भर उठा था। अपने आवेग को रोकते हुए मैंने उसे बलात उठा लिया "उठ पगली! चल अब बहुत हो गया।"

वह मेरा अनुसरण करती चली आई। जब हम डेरे पर पहुँचे तब लछुआ तथा अन्य मजदूरों को छोड़ और कोई हमें न मिला। सभी शायद मंदिर चले गए थे।

सोलह

चार दिन बद्रीनाथ पुरी में बिता कर पाँचवे दिन मैंने अपना बिस्तरा पीठ पर बाँध लिया। जब मैं चलने लगा तो लछुआ ने अपनी सीधी-साधी निश्च्छल वाणी में कहा "साॅब, आप काहे को बोझ ढोता ...ये काम हमारा है......आप तो राजा आदमी हैं।" मैंने उसके इन्कार करने पर भी तीस रुपये उसे भेंट किये और कहा "सभी अपने ही लिये राजा हैं भाई! तुम कुमार साहब को वापस लेकर जाओ, मेरी चिन्ता न करो।"

मैंने देखा, मेरे चलते समय वह मेरे पैरों पर गिर पड़ा था, उसका मन भारी था।

मेरा विचार तिब्बत के दर्रे से होकर आगे बढ़ने का था और मैं एक सच्चे यात्री के समान जीवन के अन्तिम क्षण तक आगे ही बढ़ना चाहता हूँ। मेरे जीवन का कोई शौक नहीं, कोई इच्छा मेरी नहीं—सारा संसार मेरा अपना है, जहा रात बिता लूँ वही मेरा घर है। इसी लक्ष्य को लेकर मैं एक अज्ञात पथ का राही आगे बढ़ा जा रहा हूँ।

रानी माँ ने और कुमार साहब ने मुझे सारे रास्ते समझाया। रानी माँ स्नेहवत्सला हैं, कुमार साहब मोम की मूर्ति। इतने दिनों के नैकट्य से हम सबके मन का मैल धुल गया है। लगता हैं जैसे हम सब एक हैं। वास्तव में हृदय एक हो तो आकृतियां मार्ग की बाधा नहीं बनतीं! प्रान्त, देश, नगर, उपनगर कुछ नहीं। सब एक दूसरे के हो सकते हैं।

रानी मां, कुमार साहव, सुजाता और नर्मदा आदि मुझे पैनखंडा तक पहुँचाने आए। पैनखंडा बद्रीनाथ से कोई चार मील दूर है और भारत का अन्तिम गांव है। मार्ग में तप्तकुण्ड में हम सभी ने स्नान किया और फिर आगे बढ़ गए।

रानी मां ने मुझसे चलते-चलते कहा "मैं क्या कहूँ बेटा तुमसे ! जब तुम्हारी ही इच्छा है तो ईश्वर तुम्हें चिरायु रखें। तुम्हारा रास्ता निष्कंटक हो बेटा !" उन्होंने रोते हुए यह शब्द कहे और मेरे माथे का एक प्यार लिया। उन्होंने फिर कहा "बेटा ! जब लौटो एक बार अपनी इस मां के पास तो आओगे न ?"

मैंने उनके चरण स्पर्श कर हाथ माथे पर लगाए और, कहा "मुझे अपनी आत्मा पर पूरा भरोसा है माँ ! मैं अवश्य लौट कर दर्शन करूँगा।"

सभी की आँखें भर आई थीं, और वातावरण में करुणा व्याप्त हो गई थी। कुमार साहब आगे आये। उनकी सफेद ऊन सदृश दाढ़ी के बीच छिपे चेहरे में एक बार पुनः बहुत दिनों बाद मैंने दुःख की छाया देखी, उनकी वयोवृद्ध आँखों में वात्सल्य के भाव प्रकट हो रहे थे। उन्होंने अपने सबल, किन्तु बूढ़े हाथों से मेरी पीठ सहलाते हुए कहा "उम्र में आपसे बेशक बड़ा हूँ, अक्ल में बच्चा। इतने दिनों के साथ से ही आप कलेजे के एक हिस्से बन गये हैं—आपका रास्ता रोकने की मेरी हिम्मत नहीं है, इसीलिये मन रो रहा है, आपको बिदा करते हुए। भगवान् आपको शक्ति दे। आपने मेरी बच्ची को जिला दिया, जो मेरे बुढ़ापे की जिन्दगी है। अगर मरने से पहले दर्शन न दिये तो आखिरी सांस तक आपका ही नाम लेकर दम तोड़ूँगा।" उस दिन उनका धैर्य छलक पड़ा और वे फूट-फूट कर रो पड़े।

मैंने श्रद्धा से उनके पैर छुए और उनके घर के पते के कार्ड को जेब में रखते हुए कहा "खुशी के मौके की खबर दीजियेगा, जहाँ भी रहूँ, पत्र देता रहूँगा।" और एक बार उनके चरण जोर से पकड़ कर मैं खड़ा हो गया।

उन्होंने आशीर्वाद दिया "ईश्वर आपको लम्बी आयु दे, आपकी कामना पूरी हो।"

नर्मदा अपनी आँखों को साड़ी में छिपाए थी, और उसकी बगल

साड़ी का वह छोर आंसुओं से गीला हो गया था, जिसे वह आंखों पर लगाए थी। उसने एक छोटी-सी तश्तरी थैले में से निकाली। कुंकुम और अक्षत रोलियाँ लिये वह आगे बढ़ी पर उसके कदम डगमगा रहे थे। उसने समस्त संकोच त्याग अपनी कोमल वाणी में कहा "भय्या ! मेरी भूलों के लिए क्षमा कर देना। मैं हृदय की समस्त भावनाओं के फूल तुम्हारे मार्ग पर बिछाती हुई, ईश्वर से तुम्हारे मंगल की कामना करती हूँ।" और फिर आगे बढ़ कर कुंकुम और तिलक मेरे माथे पर लगा दिये। मैं क्या कह सकता था ? उसकी श्रद्धा और प्रेम के बदले में शब्द भी क्या कहता, फिर भी उसके सर पर हाथ रख मैंने कहा "बहन ! तुम्हारे इस उत्साह वर्धन से मुझे जो बल मिलेगा, उसका कुछ भी बदला मैं चुका नहीं सकता, सिवा इसके कि अपनी अन्तरात्मा को साक्षी रख तुम्हें आशीर्वाद दूँ। ईश्वर करे बहन ! तुम सदा गंगा-यमुना सदृश पवित्र रहो और तुम्हारी साधना सफल हो।"

सुजाता जड़ हो गई थी, फिर भी वह आगे बढ़ी और उसने समस्त बंधन मर्यादाओं की अवहेलना कर रोना प्रारम्भ कर दिया। सभी बिस्मित खड़े देखते रहे। वह आगे बढ़ी और ढेर सारे बुँरूसी के फूल उसने मेरे पैरों में डाल दिये, फिर माथा नवाया और हृदय की समस्त वेदना उड़ेलती वह गर्दन झुकाए बोली "मुझे उस दिन की प्रतीक्षा रहेगी, जब मैं पुन: आपके दर्शन कर सकूंगी।"

"हां सुजा !" मैंने उसके सिर पर हाथ फेर कर कहा "मैं जरूर आऊँगा।"

"ईश्वर आपके सारे दु:ख मुझे दे दे" यह कह कर वह फूट-फूट कर रोती हुई नर्मदा से सट कर हिचकियां लेने लगी।

दोपहर के कोई ग्यारह बजे मैं भारत के अन्तिम गाँव पैनखण्डा से आगे के मार्ग पर बढ़ चला। जब मैं ऊँचाई पर बढ़ने लगा तो सभी ने हाथ हिलाये, मैं भी उत्तर देता रहा और जब तक हम सब एक दूसरे की नजरों से ओझल न हो गए तब तक हाथ हिलाने का सिल-

सिला जारी रहा। अन्त में वह स्थान भी आया जहाँ से मैं नीचे घाटी की ओर मुड़ा और तब हम इतने दिन के साथी क्षण भर में एक दूसरे की दृष्टि से ओझल हो गए।

फिर वही रास्ता, वही मैं, वही प्रकृति की सुन्दरता, वे बर्फानी श्वेत पर्वत और वे आकाश में तैरती काली घटाएँ! न जाने कब तक हम एक दूसरे का अनुसरण करेंगे और कब मंजिल पूरी होगी। दूर कहीं पैनखण्डा का कोई चरवाहा बाँसुरी का मधुर संगीत छेड़ रहा है। मैं एक गीत की लाइन गुनगुनाता हुआ आगे बढ़ रहा हूँ :—

ऐकला चलो रे !.................ऐकला चलो !

हमारे यहां से प्रकाशित उपन्यास

नष्ट नीड़	उषादेवी मित्रा	४·५०
जीवन की मुस्कान	”	४·००
बचन का मोल	”	३·००
पिया	”	४·५०
भँवर जाल	कृष्णचन्द्र शर्मा 'भिक्खु'	३·५०
धुआं और लपटें	श्रीचन्द्र अग्निहोत्री	३·००
रात अन्धेरी है	महेन्द्रनाथ एम० ए०	४·००
चित्रकार	श्रीराम शर्मा 'राम'	४·००
टेढ़ी रेखाएं	श्रीराम शर्मा 'राम'	४·००
पत्थर पानी	यादवचन्द्र जैन एम० ए०	८·००
रेत का महल	कृष्णचन्द्र एम० ए०	४·००
प्रबल परीक्षा	वीरेन्द्रसिंह यदुवंशी	३·५०
एक था शहर	ताजवर सामरी	६·००
सन्ध्या राग	ए० एन० कृष्णराव	३·५०
आदमखोर	नानकसिंह	५·००
खम्मां अन्नदाता	यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'	४·००
अनावृत	”	४·००
आदित्यनाथ	बलभद्र ठाकुर	५·५०
शिल्पी	कमल शुक्ल	५·००
कोई कुछ कह गया	कमल शुक्ल	२·००
गुंजाल	”	१·५०
मणिमय कुण्डल	राजेन्द्र शर्मा	३·५०
राजदूत	जुले वार्न	४·००